डाक बंगला

आज भी जब मैं इरा के बारे में सोचता हूं तो उसकी सूरत-शक्ल से ज्यादा मुझे मेजर सोलंकी, बतरा, डाक्टर और विमल याद आते हैं। मेरे कानों में कभी दौड़ते हुए घोड़ों की टापों की आवाज गूंजने लगती है, कभी बतरा की कैद परछाई याद आती है, कभी डाक्टर का वह जुमला—अब जैसा तुम चाहो! और कभी विमल का ध्यान आता है, जिसके शरीर में पसीने के कांटे उगते थे। और मेरे सामने काश्मीर के वे दृश्य आज भी घूम जाते हैं जहां इरा ने मुझे यह सब बताया था।

कई बार मैंने कोशिश की कि इस बात को, जो रह-रहकर मेरे दिल में घुमड़ उठती है, कहानी के रूप में लिख डालूं, पर पिछले तीन साल से कोशिश करते रहने के बावजूद मैं नहीं लिख पाया। आज इसे लिखने बैठा हूं तब भी इस बात का यकीन नहीं है कि इसे पूरा कर ही पाऊंगा, क्योंकि बहुत सोचने के बाद भी मैं किसी नतीजे पर नहीं पहुंच सका, न मैं इरा को ही पहचान सका। बस, इतना लगता है कि उसके लिए मैं सब कुछ कर सकता था। काश्मीर, इरा, सोलंकी और मैं और धुंधली-सी तीन परछाइयां—सब एक साथ गुथे हुए हैं। जब भी लिखने बैठा, तब काश्मीर के दृश्यों को उतारते-उतारते थक गया और इरा न जाने कहां खो गई। और काश्मीर को लेकर कहानी लिखने में एक बेईमानी का बोध भी होता है। यही घटना कहीं भी घटित हो सकती थी, हिन्दुस्तान के किसी भी हिस्से में, लेकिन सौन्दर्य-मात्र के प्रति इरा का दीवानापन मुझे मजबूर करता है कि मैं कम से कम उसके प्रति अन्याय न करूं। और जब मैं इस प्रेरणा से अभिभूत होकर लिखना शुरू करता हूं तो

का अनन्त सौन्दर्य मेरे ऊपर हावी हो जाता है।···मेरे कानों में घोड़े की टापों की आवाज़ गूंजने लगती है और धीरे-धीरे हिलती हुई चीड़ की झूमरें मुझे स्पष्ट दिखाई देने लगती हैं···

पहलगाम से आड़ू का रास्ता! बाएं लिद्दर बह रही है और दाएं पहला पठार घास-फूलों से ढका है। उसीकी कमर पर से पतला रास्ता जा रहा है। जगह-जगह घनी कंटीली झाड़ियां हैं। पत्थरों की उभरी हुई रेखा उस पतले रास्ते की दिशा बता रही है। नदी का शोर घोड़े की टापों के साथ जैसे पार्श्व संगीत का काम कर रहा है।···दूर छूटे हुए पहलगाम की चहल-पहल ऐसे खो गई, जैसे किसीने दरवाज़ा बन्द करके किसी फैक्टरी के बाहर निकाल दिया हो। लिद्दर की धार में लकड़ी के लट्ठे बहते हुए चले आ रहे हैं।···मंडराते, चकराते और सीधी धार में पड़ते ही शीशे की सतह पर फिसलते-से। पर रास्ता इतना ऊपर चढ़ गया है कि उसका कोलाहल ऊपर तक नहीं आता। नीचे गति है, दृश्य हैं और चट्टानों से टकराती धार है।···उड़ते हुए जल-पक्षियों की पंक्ति है।··· मौन खड़े वन हैं···या चट्टानों की आड़ में रुककर दम लेते हुए लकड़ी के लट्ठे हैं। जल-फेन के तैरते हुए सफेद फूलों के गुच्छे हैं। अवरोध से टकराकर छिटके हुए जल-बीज हैं। पर सब निःस्वन, आवाज़हीन।··· जैसे एकाएक सिनेमा में आवाज़ बन्द हो गई हो।

कि एकाएक वही—घोड़े की टापों की आवाज़!

सोलंकी घोड़ा दौड़ाता हुआ सरपट आड़ू के डाक बंगले की ओर भागा जा रहा है।···उसे इस बात का भी खयाल नहीं कि रात बारिश हो चुकी है और घोड़ा फिसल सकता है। घोड़े के खुर ज़मीन पर पड़ते नज़र ही नहीं आते, जैसे उसकी पिछली टांगें हंस की तरह हवा चीरती जा रही हैं और सोलंकी लगाम कसे उसकी गरदन पर दोहरा हुआ जा रहा है।

यह तस्वीर का एक रुख है।

अकस्मात् इरा मिल गई थी।···मैं सोलंकी को जानता भी नहीं था। उस समय हम पहलगाम में थे।

और तस्वीर का दूसरा रुख यह है—

रात आए तूफान में बिजली का तार टूट गया था। मोमबत्ती की मद्धिम रोशनी में सब चीजें धुंधली-धुंधली लग रही थी, जैसे तम्बू में कोहरा भर गया हो। मैं भाप की भट्टी में बन्द था, जिसमें मोमबत्ती की लौ एक शोले की तरह चमक रही थी। हर चीज पर मोमजामा पड़ा हुआ था। बाहर हवा अभी भी सांय-सांय कर रही थी। तम्बू की ऊपरी परत नीचे झुकती तो लटके हुए कपड़े आकुल जीवों की तरह कांपते और उनकी परछाइयां बड़ी देर तक पेंडुलम की भांति एक सीमा में हिलती रहतीं। रात के बादल अभी आकाश में ठहरे हुए थे। पहलगाम की बस्ती नींद में डूब-उतरा रही थी। दूर दक्षिण वाले पठार पर लगे हुए तम्बुओं की रोशनियां मशालों की तरह चमक रही थीं। चीड़वन से गुजरती हवा का स्वर किसी नजदीक की सड़क से लगातार जाती हुई कारों की तरह आ रहा था। भीगी हुई घासों की महक चारों ओर भरी हुई थी।

आखिर चादर लपेटकर मैं उठा। तम्बू का सामनेवाला भारी परदा हटाकर मैंने बाहर झांका। 'एल्पाइन होटल' छाए हुए बादलों के घेरे में नुकीले काले पहाड़ की तरह लग रहा था। इरा के कमरे में रोशनी नहीं थी। एकाएक रोशनी टिमटिमाई और उसका फैलाव बढ़ गया। कोई देवदूत घाटी में दीपक लिए मेरी ओर आ रहा था। उस उजाले का आभास ही बहुत था। अंधेरे में जैसे किसी रौशन सुरंग का गोल दरवाजा खुल गया हो।

उसी स्वप्निल रोशनी में, खिड़की के शीशों पर, नींद के समुद्र से एक अंगड़ाती हुई छाया धीरे-धीरे उभरी। मैं परदा उठाकर बाहर आ गया। इर्द-गिर्द खड़ी पहाड़ियों की चोटियां कुछ-कुछ साफ हो रही थीं। अंधेरा स्पिरिट की तरह अनजाने ही उड़ता जा रहा था। इरा के कमरे की रोशनी और साफ हो गई थी। शाम को इरा कह रही थी, 'तुम नहीं जाग पाओगे!' उसे जताने के लिए और इसलिए भी कि इतनी देर हम दोनों एक-दूसरे की जागृत अनुभूति से दूर रहे, मैं भीतर गया था और टार्च उठा लाया था। टार्च की रोशनी से मैंने अपने जागने का सिगनल दिया था। तभी खिड़की खुली और कमरे में [illegible]

रोशनी के परदे पर इरा छायाचित्र की तरह दिखाई दी, मैंने उसके ओठों को पहचाना···और वह वनघास की भीगी-भीगी महक, जो हमेशा उसके चिकने नम शरीर से उठा करती थी···और उसकी अलस आंखों की कोर में सोए उन्माद की लहरियों को जागता हुआ महसूस किया। तभी इरा ने कोई इशारा किया था, पर मैं अपने में बेसुध खड़ा था···यह भी नहीं जान पाया कि कब इरा ने खिड़की की कानिस पर मोमबत्ती रख दी, जिसकी लौ में उसके बाल गोटे के झीने तारों की तरह चमक उठे थे। और इरा कुछ क्षण बाद तैयार होने चली गई थी। अंधेरी घाटी में चमकता हुआ एक आकाशदीप !

पठार के नीचे किसी मोड़ से ऊपर आते हुए घोड़ेवालों की आहट हुई। सुनकर मैं तैयार होने के लिए राउटी में घुस गया, कुछ देर बाद घोड़ेवाले ने ऊपर पहुंचकर आवाज दी, 'साब, साहबा !'

मैंने निकलकर उसका नाम याद करते हुए पूछा, 'ममदू, ये बादल देख रहे हो ! ऐसे में चलना ठीक होगा ?' पूछते तो मैं पूछ गया पर लगा कि कहीं ममदू ने मौसम खराब घोषित कर दिया तो ? मैं चाह रहा था कि ममदू कहे, 'नहीं साहब, इससे कोई फरक नहीं पड़ता।'

मजदूर में दूसरे की आंतरिक इच्छा जान सकने की अद्भुत शक्ति होती है। एक क्षण के लिए उसने अपने साथी घोड़ेवालों की ओर देखा, उसकी मिचमिचाती आंखों की खामोशी में जिस भावना का बोध था, उसे उसने पहचाना और मतलब समझकर नाक मलते हुए बोला, 'नई साब, इससे कोई फरक नहीं पड़ता।'

मैंने अपने मन का उतावलापन छिपाते हुए उसीपर अहसान लादा, 'तुम कहते हो तो ठीक है, चलो !'

'हल्की बारिश में मौज रहेगा साब ! आपको आराम मिलेगा।' ममदू मेरे अहसान को उतारता हुआ बिस्तर लपेटने के लिए भीतर घुस गया। तभी इरा के होटल का बॉय चाय लेकर आ गया, उसके पीछे-पीछे एक मजदूर पीठ पर इरा का बिस्तर लादे हुए भालू की तरह झूमता हुआ घोड़ों के पास पहुंच रहा था।

मैंने जब तक चाय पी तब तक सामान ढोनेवाला खच्चर तैयार हो

गया था। मैं कैमरा लटकाकर और अपने तम्बू के चौकीदार को हिदायतें देकर एल्पाइन होटल की ओर चल दिया। घोड़ेवालों से नीचे सड़क पर मिलने की बात कह दी थी। उजाला अच्छी तरह फैल चुका था। इरा होटल के छोटे-से फाटक का सहारा लिए खड़ी थी, कुचली हुई घास में उसके पैर छिपे थे।

तुम यहां खड़ी हो, मैं वहां इन्तजार कर रहा था। पास पहुंचते हुए मैंने कहा, और वह मेरे कंधे से सट गई थी। उसके सुडौल रेशमी कंधों पर हाथ रखते ही उंगलियां चारों ओर से अपने-आप सिमटने लगती थीं और कंधे से कुछ नीचे पीठ पर वे स्वतः सड़सी की तरह बंद हो जाती थीं। इरा का शरीर लहर की तरह सिहरता और व्यर्थ मुक्ति की सारहीन चेष्टा आंखों में आकर पूछती, क्या? और उनमें झांकते हुए प्रश्न और उत्तर एक ही बिंदु पर आकर मिल जाते। प्रश्न और उत्तर से परे एक सहज चेष्टा और उससे उत्पन्न एक मोहक प्रक्रिया-भरी स्वीकृति।

घोड़ेवाले कोल्हाई के रास्ते पर खड़े हमारा इन्तजार कर रहे थे। एल्पाइन होटल से उतरते हुए पहलगाम की छोटी-सी बस्ती रेलवेयार्ड की तरह लगती। मास सड़क के किनारे लकड़ी के मकानों की कतार रेलगाड़ी की तरह खड़ी थी। रात-भर बुझी बतियां जल गई थीं और लिद्दर नदी का शोर बढ़ गया था।

खालसा होटल के कुछ लोग साथ चलनेवाले थे, उनका क्या हुआ? इरा ने पूछा। मैं उनका साथ चाहता भी नहीं था, आसानी से समझा दिया, वे आते रहेंगे, हम जल्दी चल रहे हैं। डाक बंगले में आराम की जगह मिल जाएगी।…मैंने एक रात आड़ू के डाक बंगले में रुकने का प्रोग्राम बनाया है और एक रात लिद्दरवट के डाक बंगले में, उसके बाद कोल्हाई! ठीक है न?

पहले वहीं पहुंचें भी! इरा ने कहा तो मेरे मन की बात फूट पड़ी, तुमने बिस्तर बेकार लिया।…मेरे पास सब चीजें एकसद्दा हैं। इस बात में मेरा कुछ आशय था। लेकिन इरा के चेहरे पर कहीं भी संकोच नहीं था। न जाने क्यों, सामान्य स्त्रियों की भांति ऐसी

हलचल नज़र नहीं आती थी, जैसे कुछ भी अनुचित न हो। वह स्त्री-पुरुष की इन तमाम छोटी-छोटी सामाजिक और नैतिक धारणाओं को बड़ी सरलता से नकार देती थी, जिन्हें मैं महत्त्वपूर्ण समझता था। इससे मुझे बल मिलता, मैं और खुलता, इरा और उन्मुक्त हो जाती। मैंने अपनी पेंट की जेब से लेमनड्राप्स निकालकर उसकी ओर बढ़ाए। एक मुंह में डालकर दो-तीन बार चूसकर उसने फेंकते हुए कहा, कहां से उठा लाए।···सौंफ और धनियावाले, मुंह का ज़ायका बिगाड़ दिया।

टाफी दूं? कहते हुए मैंने जान-बूझकर आधी टाफी दांत से कुतर ली और आधी उसकी ओर बढ़ाता हुआ बोला, मैं जानता था, इसीलिए लेता आया। और उसके उत्तर में इरा ने सहज भाव से मुंह खोलकर इलायची दिखा दी, मैं इलायची खा रही हूं, आप ही खाइए इसे।··· सुनकर मुझे अपनी गलती का पता चला और संकोच से गड़ गया। इरा की ऊपरी सहजता से जितना बढ़ावा मिलता था, वह क्षण-भर में उसकी भीतरी सजगता से व्यर्थ हो जाता था। वह ऊपर से जितनी निस्संकोच, मुक्त, निर्बन्ध दीखती थी, शायद अन्दर से उतनी ही संकोचशील, परम्परानुरागी और भीरु भी थी।

रात बड़े बादल थे, लगता था चलना नहीं हो पाएगा। मैंने इरा की मनःस्थिति की थाह पाने को बात बदल दी थी, वह रहस्यमय-सी लगती थी ऐसे अवसरों पर। मछली की तरह बार-बार फिसल जाती।···क्षण दो क्षण हाथों में टिकती और सरक जाती, दिन-रात सपनों की बातें करती···।

श्रीनगर में डल पर सैर करते हुए कल्पनाशील दार्शनिक की तरह आधी आंखें मूंदते हुए उसने कहा था—प्रकृति में जो यह जंगलीपन है, तिलक, यह भी कितना खूबसूरत है!···मैं वहशियों की तरह जीना चाहती हूं।···प्रकृति के इस जंगलीपन की तरह! कभी-कभी सोचती हूं।···आसाम की जंगली जातियों में ही मेरा जन्म होता। वनपाखियों के पंखमुकुट लगाकर घूमती!···कहते-कहते उसने पूरी आंखें खोलकर एक पल की खामोशी के बाद कहा था, देवदार देखे हैं? मन करता है नंगी चट्टानों के बीच देवदारों की तरह उग सकूं। बस, खड़ी रहूं।

तूफानी हवाएं मुझे झिंझोड़ जाएं, बारिश में सिहर-सिहरकर भीगूं और नंगी बाहें पसारकर बरफ़ का स्वागत करूं।···

बात सुनकर मैं बड़े व्यावहारिक ढंग से मुस्करा दिया था। अपने प्रति उपेक्षा का भाव वह सहन न कर पाई थी। बोली—नासमझों की तरह हंसते क्या हो? मुर्दे नहीं सोच सकते यह सब। उसकी आवाज़ में तेज़ी थी और वह बहती आ रही थी—झील के तीन ओर खड़ी ये पहाड़ियां तुम्हें नहीं पुकारतीं! इन चिकनी चट्टानों पर चढ़कर इन्हें रौंद डालने की इच्छा नहीं होती, कैसे आदमी हो मिस्टर? किनारे पे बैठे-बैठे झील के जल को बच्चों की तरह उछालते हुए वह बोलती जा रही थी, इसके तल तक पहुंचकर पानी उलीचने को मन होता है। सिवार के जाल में फंसकर तड़फड़ाने में कितना सुख होगा। या बस कमलवन में घुस पड़ूं, उसे रौंद डालूं।···कमलनालों को तोड़-मरोड़कर बिखेर दूं, झील के पानी को गदला कर दूं···

उस पल मैंने उसे बहुत गहरी नज़रों से देखा था, बांह में पड़ी चूड़ियां सरकाने का उपक्रम करते हुए उसकी बांह पर पहली बार हाथ रखा था। इरा की त्वचा में खिंचाव था। उसका रोम-रोम उभर आया था, जैसे रेत के कण उसके शरीर पर चिपक गए हों। उसकी आंखों में उमंग थी और होंठों पर मादक सूखापन। उसके शरीर का सारा रक्त निचुड़कर कहीं भीतर जमा हुआ था। उसका तन सूखी टहनी की तरह कड़ा था, पर ऐसा कड़ापन जो उंगली के इशारे-मात्र से चटाख से टूट जाए। मैंने उसकी पीठ पर हाथ रख लिया था। इरा वैसे ही पवना-माली की पहाड़ियां देखती रही। वातावरण बदलने के लिए मैंने बहुत मुलायमियत से कहा, 'तुम एक झूठी ज़िन्दगी की कल्पना से परेशान हो। तुम एक ग़लत मोड़ पर मुड़ गईं, इसीलिए अब तुम ज़िन्दगी जीना नहीं, उसे तोड़-मरोड़ देना चाहती हो···'

इरा ने अपनी काली-काली आंखों से मेरी तरफ देखा, बादामी पुतलियों में जाले की तरह महीन तार चमक रहे थे और केन्द्र का काला दृष्टिबिन्दु मोती की तरह झलमला रहा था। उसकी बरौनियों के बाल कंटीले तार की तरह खड़े थे। न जाने क्यों मुझे इन

लगा कि जैसे सारी गलती इन्हींकी हो···इरा की सौन्दर्यपूर्ण जावना का वियावान में घसीट लाने का दोष इन वहशी आंखों का है। उसीसे प्रेरित होकर मैंने कहा, इस तरह तुम टूट जाओगी। आदमी-आदमी के रिश्ते इसी तरह पहाड़ बने खड़े रहेंगे, उसका प्यार पानी की तरह लहराता रहेगा और कमल इसी तरह खिलते रहेंगे।···और मैं अपनी भावुकता की रौ को पहचानते ही चुप हो गया था।

कुछ देर शिकारे पर ही इधर-उधर घूमकर हम नेहरू पार्क में चले आए थे। शाम थी, इसीलिए भीड़ बढ़ती जा रही थी। नव विवाहित जोड़े रोशनी से दूर इधर-उधर रेलिंगों या झाड़ियों के पास अंधेरे में खड़े थे। मेरा मन हो रहा था कि इरा को लेकर उधर रेलिंग के पास चला जाऊं, जहां अपेक्षाकृत अंधेरा था। इतनी निकटता मैं महसूस करने भी लगा था।

इरा का हाथ पकड़कर मैं उस अंधेरी रेलिंग की ओर चल दिया था। ऐसी जगहें अलगाव दिखाने की होती भी नहीं, क्योंकि इन जगहों का संस्कार ही ऐसा होता है। रेलिंग पर झुके-झुके डल के पानी में रोशनी के चमकदार सांपों को लहराकर नीचे की ओर जाते हुए देखकर इरा ने पूछा था, तिलक, तुम कब तक रुकोगे यहां ?

काश्मीर में ? मैंने बात साफ करके कहा, जब तक कहो।

इरा ने बात आगे नहीं बढ़ाई। मुझे कुछ बुरा-सा लगा। पिछले पांच दिनों से मैं इसी कशमकश में था। इतनी निकटता के बावजूद हमारे व्यक्तित्व ताड़ के पेड़ों की तरह अलग-अलग खड़े थे। जब भी बात करता तो इरा अपना पुराना किस्सा सुनाने लगती—आसाम की उन बस्तियों में रहना बहुत खतरनाक है···खिड़की पर खड़े होते डर लगता था। न जाने कब गोली शीशे के पार से छाती में घुस जाए।··· ऐसे ही अचानक उनकी मौत हुई थी। डाक्टरी का पेशा ही ऐसा है, रात-बिरात भी जाना पड़ता है।

मैं भला क्या कहता ! उसके पति की मृत्यु के प्रति आंखों से संवेदना ही प्रकट कर सकता था। वैसे इरा की चेतना पर उसके पति की इस आकस्मिक मृत्यु का कोई भीषण प्रभाव हुआ हो, मुझे उस वक्त तक

नहीं लगा था। इस बात को छोटा-सा सवाल करके इरा खामोश हो गई थी, उसमें मुझे उलझन हो रही थी। वह चुपचाप चारों ओर के दृश्यों को देख रही थी। शंकराचार्य की पहाड़ी पर अपना बन्द मन्दिर के अस्तित्व का ज्ञान करा रहा था। सामने महादेव की पहाड़ियाँ थीं, जिनकी ठोस परछाइयाँ पानी को काला कर रही थीं। बाईं ओर हरि-पर्वत, और इन सबके बीच फैला हुआ डल का नीला जल। उस पानी में नहाते हुए बेंत के पेड़ और सतह पर बत्तियों की तरह तिरते हुए देवल के सिरे। तैरते हुए शैल और इस अपार सौन्दर्य-राशि के बीच पास खड़ी हुई इरा। लेकिन मन देवकी के भय में आबद्ध था। सचमुच, इस तरह मैं नहीं रह पाऊँगा। यह पानी की आग। यह तूफ़ान! या तो इसमें कूदना होगा या इस अग्नि-देश से भागना होगा—इरा की पीठ मेरे सामने थी···पान की शाख में तराशी हुई मांस की गरम चट्टान। और तब, नहीं जानता कैसे, उसके जूड़े के नीचे गरदन पर मेरे तपते हुए होंठ थे···घुले हुए केशों की ठण्डक पलकों से आँखों में उतर गई, स्निग्ध शीतलता, वनबाग की भीनी गन्ध···मधुशालि पर रखे हुए अधरों का अलस अस्तित्व···या ओस से भीगे कमल पर रखी हुई चेतना पर मद-होश दृष्टियाँ, पंखुड़ियों की नरम शीतलता और पराग की भीनी-भीनी गन्ध···लम्बी कमलनालों-सी रेंगती हुई उसकी उँगलियाँ मेरे कान पर थरथराई थीं। क्षण भर थाम, जैसे बधिर हो गया था उस पल··· उसकी उँगलियों ने मेरे बालों को बुरी तरह खींचा था और क्षणांतर उनकी पकड़ ढीली हो गई थी।···और कहीं हवा के साथ प्रतिध्वनित होते शब्दों की मौन झंकार चारों ओर लगा गई थी···

बहुतों ने पुकारा था मुझे, पर ऐसा शून्यवत् पर विशेष आशय शायद कभी भी किसी का नहीं था। वह कमलनाल की तरह रेलिंग पर झुक गई थी, कुछ देर बाद अपने बालों को झटकारते हुए बोली थी, शिकारेवाले को बुलाओ, अब चलेंगे।

बाँध पर आकर हम उतर गए थे। अब तक मैं अपनी

तब तक इरा ने मांझी की हथेली पर दस का नोट थमा दिया था। मैं सकुचाता ही रह गया। मांझी दोपहर से साथ था, जब तक वह हम लोगों के रिश्ते को जानने की कोशिश करे, तब तक इरा ने उसे इस आश्चर्यपूर्ण स्थिति से उबार लिया, बोली, साहब को पहले पुल तक पहुंचा आओ, इनको उधर जाना है, अपने होटल में···

इरा ऐसे ही असम्बद्ध हो जाती थी। मुझे यह अपमान खल गया था, लेकिन इरा यह सब ऐसी सम्मान-भावना से करती थी कि सहज ही अवहेलना करने का साहस नहीं हो पाता था। जब वह इस तरह अपने को काट-छांटकर अलग खड़ा कर लेती तो उसके शरीर के तनाव से तेज की रश्मियां विकसित होतीं, जिनमें अपमान की क्षुद्रता का बोध हो सकना सचमुच असंभव हो जाता। 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश' सच, बिल्कुल ऐसी ही थी, इरा!

और मुंह में इलायची दिखाकर उसने ऐसी ही ठेस पहुंचाई थी, जो मेरे मन की छोटी-सी बात को खंडित करके आत्म-भर्त्सना से भर गई थी। हम दोनों चुपचाप घोड़ेवालों की तरफ बढ़ रहे थे। घोड़ेवाले सफर पर जाने के लिए वहां जमा हो रहे थे, जहां से आड़ू-कोल्हाई और चंदनवाड़ी का रास्ता कटता था। हम अभी पहलगाम के मुहाने पर ही थे।

एक आवाज सुनकर हम दोनों ने ही उस तरफ देखा, मैं उस आदमी को नहीं पहचान पाया—सूरत साफ दिखाई पड़ रही थी। वह घोड़ा दौड़ाता हुआ आया था। रूखे मोटे-मोटे बाल, पुष्ट भरा हुआ शरीर। मोटे-मोटे पर साफ तराशे हुए होंठ। कनपटियों पर मांसलता कुछ अधिक थी। वह और पास आया तो मैंने गौर से देखा—दानेदार रेगमाल की तरह खुरदरी मुंह की खाल, कोयले की महीन कनियों-सी बढ़ी हुई दाढ़ी और मूंछें। सांसों से हिलते हुए नथुनों के बाल, कान की लवों पर भी काले रेशे। मैंने इस आदमी को कभी नहीं देखा था। तभी इरा बोल पड़ी, अरे सोलंकी, इधर कहां?

चन्दनवाड़ी से वापस आ रहा हूं, शेषनाग गया था। तुम किधर···?

उस सोलंकी ने पूछा, तब तक इरा उसके घोड़े के पास पहुंच गई थी। वह नीचे खड़ी सोलंकी को इस तरह ताक रही थी जैसे कोई विजयी राजपूत वापस आया हो।

उसकी यह बात सुनकर मेरा मन हुआ कि कहूं—अच्छा तो मैं चलता हूं। पर मैं खामोश खड़ा सोलंकी के घोड़े को ताकता रहा जो अभी भी हांफ रहा था। सोलंकी ने घोड़े से कूदकर रासें छोड़ते हुए दस्ताने उतारे और ओवरकोट की जेब से पाइप निकालकर तम्बाकू भरने लगा। पाइप भरते-भरते वह बोला, हमारा घोड़े वाला कह रहा था, साहब अभी सरदी है, देर से चलेंगे फिर घोड़े की ओर देखते हुए बोला, कहता था, अगर आप इस पहाड़ी रास्ते पर घोड़ा दौड़ाएंगे तो टांग साफ टूट जाएगी…यह कौम का नहीं, विजिटर लोग के वास्ते पॉनी है पॉनी। पॉनी शब्द पर उसने जोर दिया था और हंसा था, फिर पाइप जलाते हुए बोला था, टांग क्या खुर तक नहीं टूटा। कहते हुए उसने अपने फौजी बूट से घोड़े के टखने पर जोर से वार किया। घोड़े ने चोट से तिलमिलाकर तीन-चार बार ऐसे टांग उठाई जैसे सरकस में सलाम कर रहा हो। पाइप अभी जला नहीं था, उसकी तम्बाकू दबाते हुए सोलंकी फिर बोला था, आना तो कल शाम ही था, एक रात चन्दनबाड़ी में रुक गया। सुबह उठकर मैं भाग आया, खच्चरवाला और इसका मालिक पीछे आ रहा है। कहते हुए रुककर उसने फिर पाइप सुलगाया और नथुनों से धुएं की पतली धार निकालते हुए बोला, हां, यहां तो कोल्हाई चलूं ? और तब उसने पहली नजर मुझपर डाली थी। इरा को मेरी उपस्थिति का जैसे अकस्मात् ज्ञान हुआ तो एकदम चौंककर बोली, अरे ये मिस्टर तिलक हैं और आप मेजर सोलंकी।

सोलंकी ने लपककर हाथ मिलाया। काफी जोर से उसने मेरा हाथ दबोच लिया था। बड़ी शालीनता से छुड़ाते हुए मैंने कहा था, अभी आप चन्दनवाड़ी से आ रहे हैं, थके होंगे।

इरा की दृष्टि में सहमति और असहमति दोनों ही थीं कि कश लेकर धुआं उगलते हुए सोलंकी ने कहा, नहीं, नहीं, बिल्कुल नहीं। और धुआं उसके चेहरे के चारों ओर ऐसे लिपट गया था, जैसे उसने पारदर्शी

प्लास्टिक का मोमजामा ओढ़ लिया हो। ईजिप्शियन तम्बाकू की मीठी-मीठी गन्ध उसके ओवरकोट से फूट रही थी। उसके भारी-भारी जूते ओस से भीगे थे।

अपने घोड़े की रासें पकड़ते हुए सोलंकी ने ही कहा था, मैं थका हुआ हूं या नहीं, यह अलग बात है, बहरहाल मुझे भी कोल्हाई चलना चाहिए। आइए, इरा जी हम लोग कहीं एक-एक प्याला कॉफी पिएं तब तक मेरा सामान और घोड़े वाला आ जाएगा। आइए, आइए तिलक साहब।

और हम तीनों होटल की ओर चल दिए।

कुछ देर बाद सोलंकी का सामान और घोड़े वाला आ गया। हम कॉफी पी चुके थे। सामान दूसरे खच्चर पर लदवाकर और घोड़ा बदल-कर सोलंकी भी साथ चल दिया।

दिन-भर पैदल और घोड़ों पर चलने के बाद आड़ू को पीछे छोड़ते हुए शाम होते-होते हम सीधे लिद्दरवट के डाकबंगले में पहुंच गए। जब हम वहां पहुंचे तो हल्की-हल्की बारिश हो रही थी। खच्चर वाले सामान लेकर पहले ही पहुंच चुके थे। डाक बंगला नया था—सामने दो कमरे, उनके पीछे बरामदा और बरामदे से पूंछ की तरह जुड़ा एक रास्ता, जो पीछे बने किचन और भण्डार खाने के जुड़वां कमरों तक जाता था। सामने के ऊंचे पठार से देखने पर यह डाक बंगला हवाई जहाज़ की शक्ल का लगता था और उसके पीछे लिद्दरवट का पहाड़ सपाट चट्टान की तरह खड़ा था।

लकड़ी के फर्श पर सामान पटककर घोड़ेवाले चौकीदार की कोठरी की ओर चले गए। सामने ऊबड़-खाबड़ मैदान था और उसके दाहिनी ओर लिद्दर का पानी चुपचाप बह रहा था। पास खड़े देवदारों के नीचे सूखी कत्थई पत्तियों की चटाई-सी बिछी थी।

डाक बंगले के दोनों कमरे बन्द थे। उनके मुसाफिर कोल्हाई से लौटनेवाले थे।

वहां पहुंचते ही इरा बदल-सी गई। रास्ते-भर उसकी जो चहक सुनाई पड़ रही थी, वह एकदम लुप्त हो गई। सोलंकी अपने में मस्त था। वह बार-बार पाइप सुलगाकर थोड़ी-सी तम्बाकू पीता और फिर उसे साफ करने के लिए लकड़ी की बानिस पर ठोकने लगता। मैं सामान के पास एक कुरसी खींचकर बैठ गया। तीनों साथ थे, पर तीनों ही बहुत अलग-अलग महसूस कर रहे थे…जैसे हम तीनों यहां आने का कारण ढूंढ़ रहे हों। किसीके भी मन में कोई बात स्पष्ट न थी। शायद सबसे ज्यादा सताया हुआ मैं ही लग रहा था, उस वक्त। सोलंकी के रेगमाल जैसे चेहरे पर भी व्यग्रता उभरा रही थी। इरा गुमसुम थी और हम शायद इसीलिए चुप थे कि बात करते ही कहीं एक-दूसरे के मन का झूठ न पकड़ा जाए।

आखिर चौकीदार ने आकर हमें उबार लिया। वह तापने के लिए अंगीठी ले आया था। उसने पूछा, मेम साब, किसी चीज की दरकार…? और सुलगी हुई अंगीठी उसने इरा के पास रख दी थी।

दूध मिल जाएगा? एकदम बात पकड़कर इरा ने खामोशी तोड़ी।

इधर दूध मिलना बोत मुश्किल है, मक्खन बोत मिलेगा…पर साब, शायद थोड़ा दूध हमारे पास बचा है, अभी लाएगा। कहकर वह अपनी कोठरी की ओर चला गया और मिनट-भर बाद ही दूध लेकर लौट आया। इरा ने सोलंकी से पूछा, क्या पीजिएगा मेजर साहब?

जो पिला दो। सोलंकी ने कश लेते हुए कहा।

और आप तिलकजी?

जो मरजी हो। मैंने जवाब दे दिया।

देख भी तो लूं कि साथ में क्या है? चाय, काफी या ओवल्टीन। कहती हुई इरा सामान की ओर बढ़ी।

मैडम, यह कोई वक्त है चाय-कॉफी का! मेरे पास इंतजाम है, कहिए तो निकालूं, अच्छा अभी लीजिए…कहते हुए सोलंकी अपना सूटकेस खोलने लगा। सूटकेस खुलते ही पूरा बरामदा होली की तरह महकने लगा…रम की एक बोतल टूट गई थी।

तुम भी पिओ…तुम भी पिओ। शराब से

निकालता हुआ सोलंकी बोला। उसके चेहरे पर मस्ती छा गई थी।

इन्हें सूखने के लिए फैला दो। इरा ने शराब में भीगे कपड़ों की ओर इशारा किया। सोलंकी ने अपना निचला मोटा ओंठ दांतों से दबाया और बोला, ओह नो। मैं रात में इन्हें पहनकर लेटूंगा। और सूटकेस से दूसरी बोतल और गिलास निकालकर उसने खिड़की की कार्निस पर शतरंज के मोहरों की तरह सजा दिए और बोला, आइए, मिस्टर तिलक।

मैंने धन्यवाद सहित इनकार कर दिया। सोलंकी ने मेरे नाम का जाम भरकर गट-गट उतार लिया, फर्श पर पैर पटके और बरामदे से नीचे उतर गया।

इरा ने तब तक वहीं अंगीठी पर चाय का पानी चढ़ा दिया था। सोलंकी को जाते देखकर वह बोली—मैं आऊं ? जैसे उसका मन घूमने के लिए मचल रहा हो।

ज़रूर···ज़रूर। सोलंकी की आंखें पहले से बड़ी लग रही थीं।

अपनी साड़ी को पकड़कर ऊंचा उठाते हुए इरा बरामदे से नीचे भीगी-भीगी घास पर कूद गई। देवदार की छतरीदार शाखों पर बूंदें अब भी चमक रही थीं। नदी का शोर दूर था। बादल काफी नीचे थे। चारों ओर निस्तब्धता छाई हुई थी। इधर-उधर टापुओं की तरह उभरी हुई चट्टानों और लम्बी-लम्बी घास से भरे असमतल मैदान में सोलंकी और इरा चले जा रहे थे। मैं चुपचाप बैठा देखता रहा। उन दोनों की पीठ दिखाई दे रही थी। वे कभी नीचाइयों में चले जाते, कभी ऊपर आ जाते—जैसे वे लहरों पर सवार हों, डूबती-उतरती किश्ती की तरह, उनके आकार छोटे होते गए और वे लकीरों के बने पुतले लगने लगे। ···पेड़ों के नीचे जब इरा का आकार खो जाता, तो लगता जैसे सोलंकी ने उसे ढक लिया हो।

अंगीठी पर इरा का चढ़ाया हुआ पानी खौलने लगा था। उसे उतारकर मैंने नीचे रख दिया। आधे घंटे बाद जब वे दोनों लौटे, बारिश

फिर हँसने लगी थी और मैं एक विचार में डूबा हुआ था। अंगीठी गर्मी से भर गई थी।

इरा एकदम भीगी हुई थी। मैंने नजर उठाकर देखा तो वह तौलिये से मुँह पोंछ रही थी और सोलंकी वैसे ही कुरसी पर बैठा अंग्रेजी गीत की धुन गुनगुनाना शुरू कर चुका था—ओ…ओ…लव मी टेण्डर…ओ…ओ…ओ…लव मी…बीच-बीच में वह अपने मोटे ओठों को गोल करके सीटी बजाता और बूट से फर्श पर थाप देता जा रहा था।

मेजर साहब ने तो अपना इन्तजाम कर लिया है, आप चाय बनाकर पी लीजिए, नहीं तो सरदी लग जाएगी। मैंने इरा से कहा तो अपना नाम सुनकर सोलंकी ने स्वर धीमा करते हुए बड़ी साफ नजरों से मुझे देखा। इरा चुप ही रही, जैसे उसने सुना न हो।

कोल्हाई से लौटने वाले अभी तक वापस नहीं आए थे। कमरों पर सांकलें चढ़ी हुई थीं। इरा कपड़े बदलने के लिए स्थान खोज रही थी, मैंने उसे चौकीदार की कोठरी और किचन की ओर इशारा करके जगह सुझाई, तब तक सोलंकी ने उठकर एक कमरे की कुण्डी खोल दी, आप इसमें चली जाइए…जाइए, कपड़े बदलिए।

उसमें दूसरों का सामान रखा है, आपने खोला क्यों? इरा ने कहा तो सोलंकी ने बात काट दी, अरे आप जाकर कपड़े बदलिए, कोई कुछ कहेगा तो मैं देख लूंगा।

इरा कमरे में घुस गई। मैं हर बात को गौर से सुन रहा था और हर स्थिति को ठीक से समझने की कोशिश कर रहा था। इरा भीगे कपड़ों में लिपटी अन्दर चली गई थी, लेकिन उसका सूटकेस बाहर बरामदे में ही पड़ा था। उसने बदलने के लिए कपड़े नहीं निकाले थे। मैं सोच ही रहा था कि इरा सूटकेस उठाने आएगी कि सोलंकी ने एकदम उसे उठाया और भिड़े हुए किवाड़ों को ठेलकर भीतर घुस गया, कपड़े तो इसमें हैं आपके। मैंने अंधेरे कमरे में तेज नजरें डालीं…बाएं कोने की ओर सिर्फ सोलंकी की पीठ दिखाई पड़ रही थी, फिर एक आवाज सुनाई दी, इसे रख दीजिए, मैं निकाल लूंगी।…सोलंकी हँसता हुआ बाहर आया और मुझसे बोला, मोमबत्ती है?

मैं मना नहीं कर पाया, क्योंकि झूठ बोलने के लिए वक्त की जरूरत होती है, पर मैं उसका आशय समझ गया था। वह किसी बहाने दुबारा कमरे में जाना चाहता था। जानते हुए भी मैंने दूसरी जगह मोमवत्ती की तलाश शुरू की। मैं नहीं जानता था कि सोलंकी की इन बातों को इरा किस तरह ग्रहण कर रही थी···

इतने में इरा कपड़े बदलकर बाहर आ गई—मैंने मोमवत्ती जलाकर शराब की खाली बोतल के पास कार्निस पर चिपका दी। रोशनी उन दोनों के चेहरों पर पड़ रही थी।···

अभी तक हम लोगों का सामान डाक बंगले के बरामदे में ही रखा हुआ था। रात उतरने लगी थी पर डाक बंगले के दोनों कमरों में टिके हुए लोग कोल्हाई से वापस नहीं आए थे। सोलंकी कुछ उलझा हुआ लग रहा था, कुछ क्षणों की खामोशी के बाद बोला, हम अपना सामान क्यों न भीतर कमरे में रख दें? तभी चौकीदार आता दिखाई पड़ा तो उसने पूछा, यह साहब लोग अभी वापस नहीं आया? हम किधर सोएगा?

चौकीदार असमंजस में पड़ गया, क्योंकि जो सैलानी लौटकर आने वाले थे, उन्हें भी रात वहीं गुजारनी थी और दोनों ही कमरे उनके पास थे। बरामदे में सोना खतरे से खाली नहीं था।

वह बोला, अभी साब लोग वापस आएगा।

सोलंकी ने गुर्राते हुए कहा, पर दोनों कमरा उनके पास है! कितना मेम साहब हैं उनके साथ?

दो। चौकीदार ने बताया तो सोलंकी को खल गया। उठकर वह कमरे की ओर जाने लगा तो इरा ने मना किया, उन लोगों को आ जाने दो···सामान वगैरह रखा हुआ है।

कार्निस पर रखी हुई मोमवत्ती उठाकर सोलंकी भीतर घुस गया। हम भी उठकर कमरे में पहुंचे, तब तक सोलंकी ने एक बिस्तर लाकर भीतर पटक दिया—तिलक भाई! वो खाट उधर सरका दो। वह बोला।

लकड़ी का वह कमरा हम लोगों की आमदरफ्त से धीरे-धीरे चर-

उदासी के क्षण मुझे प्रभावित करने लगे थे और मैं चाहता था
की जिन्दगी के सभी दुःखों को मैं ओढ़ लूं…पर इस क्षण मन
या। गहरे होते हुए अंधेरे में उसकी आकृति मोम-सी लग रही
र मुझे उस क्षण वह बहुत बदली-बदली लगी। मेरी आंखों के
र मैदान की लहरों में इरा और सोलंकी के डूबते-उतराते चित्र थे,
मन अपने में भीतर-भीतर घुमड़ रहा था।

तभी दूर पर टार्च की रोशनी दिखाई पड़ी और दो मिनट के भीतर
कोल्हाई से लौटने वाले सैलानियों के घोड़े डाक बंगले के दूसरी तरफ
ाले बरामदे के सामने रुक गए। दो घोड़ों पर दो खूबसूरत औरतें
थकी-सी बैठी हुई थीं। हाथ का सहारा देकर साथ के आदमियों ने उन्हें
उतारा और वे सहारा लिए-लिए ही कमरे में दाखिल हुईं। सोलंकी
कमरे में ही था और पलंग को उठाकर सीधा कर चुका था। बेहद थकी
होने के कारण वह खूबसूरत औरत जो आगे-आगे आई थी शायद एकदम
लेटना चाहती थी…

कमरे में खड़े सोलंकी को देखकर उसका फौजी आदमी अपनी हरी
ज़ीन की पेंट पर बेंत चटकाता एकदम बिफर उठा—व्हाई हैव यू डन
दिस ? वाट राइट यू हैड ?…यू…यू…

सोलंकी कद में उसके बराबर था। वह अविचलित-सा खड़ा रह
और उस आदमी की ज़बान लड़खड़ाते देख वह बोला, 'दिस इज़ ए डाक
बँगलो। यू सी…नाट योर कॉटेज।…'

गरमागरमी बढ़ती जा रही थी और वह फौजी आदमी तथा सोलं
दोनों झगड़ रहे थे। हमें भी जगह चाहिए ! बरामदे में सो सकत
कोई ? सोलंकी बोल रहा था, आई थॉट यू वुड अंडरस्टैण्ड अवर प्ल
…चौकीदार टोल्ड मी यू आर ए कर्नल इन द आर्मी…

अपने गुस्से में वह फौजी चीखा था—आइ मे बी ए डंकी
आर्मी, बट व्हाइ डिड यू रिमूव…

तभी इरा भीतर चली गई और मैं दरवाज़े के पास ठिठक गय

डाक-बंगला है···डाक बंगलों में पीली-पीली मोमबत्तियां जल रही हैं और दूर पर बहती नदियों का शोर है। चारों तरफ चीड़ और देवदार के जंगल हैं···अनगिनती पेड़ हैं, पर सब अपने में अकेले हैं।

और तभी, जब मेरी पलकें भारी हो आई थीं, मेरी बन्द आंखों में एकाएक अंधेरा छा गया था, माथे पर किसीके हाथ का स्पर्श-सा महसूस हुआ था, मैंने हाथ बढ़ाए तो रेशमी बालों की लटें उंगलियों में उलझ गईं···

वह इरा थी जो शायद सो नहीं पाई थी और चुपचाप उठकर आई थी। मेरे बिस्तर के पास, अंधेरे में ही वह झुकी बैठी रही थी। मैंने उसके ठण्डे हाथ अपनी हथेलियों में कस लिए थे। वह कुछ भी नहीं बोली थी। फिर धीरे से उसने मेरी बांह को खींचा था, जैसे कह रही हो—उठो···

अंधेरे में ही मैंने उसे देखा था। उसने फिर हलके से बांह खींची थी। आखिर मैं उठ गया था।

···और उस अंधेरे में ही हम दोनों नीचे मैदान में उतर गए थे··· कम्बल में दोनों जने जैसे-तैसे अपने को लपेटे हुए थे।

चारों तरफ अंधेरा था। जंगली पेड़ों की छायाएं पहाड़ के सीने में घुल गई थीं—बारिश से भीगे मैदान में देवदार की महक भरी हुई थी ···एक नंगी चट्टान पर हम दोनों बैठ गए थे। मैं इरा का आशय नहीं समझ पाया था। वह इस वक्त इस अंधेरे और डरावने मैदान में क्यों मेरे साथ आई थी—क्या सिर्फ मुझे खुश करने के लिए? या अपनी की हुई गलती की माफी मांगने के लिए?

तभी मुझे इरा की गहरी-सी सांस की आवाज़ सुनाई पड़ी थी। मैंने उसे गौर से देखा—अंधेरा कुछ-कुछ उजाला देने लगा। और मुझे लगा कि इरा मुझसे छल कर रही है। उदासी ओढ़कर बैठ जाना और इस तरह अपने में विश्वास पैदा करने का यह कोई तरीका नहीं है। मन में आया, इरा को बांह पकड़कर उठा दूं या खुद उठकर चल दूं। मैं उठने लगा तो इरा ने हाथ पकड़ लिया—कहां जा रहे हो?

मैं सोना चाहता हूं।

की तरफ देखता रह गया था। आखिर मुझे घूरते हुए वह बोली,
क ! जो बात मैं कहने जा रही हूं, उसे बरदाश्त नहीं कर पाओगे।
क्यों ? ऐसी क्या बात है ?
इसलिए कि अभी इसी क्षण तुम्हारे खयालात मेरे बारे में बदल
ंगे। शायद तुम सोचो कि मैं बेशऊर और बेहूदी हूं।—और यह
हो सकता है कि···कहते-कहते वह रुक गई थी।
क्या हो सकता है ?
कुछ भी नहीं।
बताओ न—जो तुम्हारे मन में हो, कह डालो—मैं भी बताऊंगा
सब कुछ, जो मेरे मन में है।
—कुछ रुकते हुए उसने कहा, यही कि तुम अभी सच बोल सकते
हो क्योंकि मैं तुम्हारे पास अकेली हूं और इस सुनसान घाटी में कोई नहीं
है···यह छूट जब मिलती है तभी तुम लोग सही बात करते हो ! तुम
आदमी लोग ! तुम अच्छी तरह जानते हो कि इस वक्त तुम मेरे साथ
किसी भी तरह पेश आ सकते हो···मुझे बांहों में घेरकर अच्छी-
सी बात कह सकते हो, या मेरी बांह मरोड़कर नाराज़ हो सकते हो, या
दूर बैठकर दार्शनिकता बघार सकते हो। लेकिन यह सब इसी वक्त हो
सकता है, क्योंकि घाटी सुनसान है और मैं तुम्हारे पास अकेली हूं।···
एक क्षण के लिए वह खामोश हो गई थी। फिर बोली थी, अकेलापन
व्यक्तियों की सचाई खोलता है। यह अकेलापन बड़ा मोहक होता है
इसमें आदमी सब कुछ स्वीकार कर लेता है···अच्छा, बुरा···सुंदर
असुंदर···
लेकिन ऐसा अकेलापन तो कई बार हम लोगों को मिला है। त
तुमने कुछ क्यों नहीं पूछा ?आज ही क्या खास बात है। कहते-कहते मु
लगा कि इरा का शरीर सूखने लगा है···ठीक वैसे ही जैसे डल पर
सूखी-सूखी हो गई थी। मेरी बांहों पर अपने नाखून गड़ाते हुए वह बो
दिन और वक्त खास नहीं होता—कोई बात ऐसी होती है जिसके स
कोई दिन या क्षण याद में उलझा रह जाता है। मैं चाहती हूं यह अ
और सुनसान घाटी इस आज की बात की साक्षी रहे···यह आधी

का बीतता हुआ क्षण याद में उलझा रह जाए···

फिर एक गहरी सांस लेकर वह बोली थी—

तिलक ! मैं सब सुनती रही हूं आज तक···अब मैं ही बोलती जाऊंगी । मेरी जिन्दगी बगैर मंजिलों के चलती रही—मैं चिर-पथिक हूं ! मेरा पड़ाव कहीं भी नहीं है । इन पहाड़ी रास्तों में जैसे लोग पैदल चलते हैं, वैसे ही मैं आज तक चलती रही हूं । रास्ते में कोई गंदी चाय की दूकान आ गई तो लोग वहां भी रुककर एक प्याली पी लेते हैं, क्योंकि और कोई चारा नहीं है···

हो सकता है । मैंने कहा ।

इरा मुझे ताकने लगी—क्या मतलब ? हर बात को आदर्श के परदे में रखकर मत देखो, तिलक ! गंदी चीज पर भी परदा डाल दो तो उसकी झिलमिलाहट खूबसूरत लगती है । आदर्श का जामा जिन्दगी को मत पहनाओ···यह मुझसे नहीं सहा जाता ।

इरा ! आखिर तुम चाहती क्या हो ?···या अब तक क्या चाहती रही हो ?···सही-सही बताना । मैंने पूछा था ।

इरा ने बड़े प्यार से मेरी तरफ देखा था । अंधेरी रात में उसकी पुतलियां मोती-सी झिलमिलाने लगी थीं । नजदीक खिसकते हुए उसने कहा था—तिलक ! अपनी बांह रख लो मुझपर···या मेरी बांह पकड़-कर पूछो यही बात । कहते-कहते वह बहुत सरल-सी हो आई थी । एक क्षण खामोश रहकर वह आगे बोली, यह बांह सौगंध होती है तिलक ! इसके बाद झूठ नहीं बोला जाता । और फिर जैसे इरा के भीतर रुका हुआ सचाई का झरना फूट पड़ा था···

—मैं इन जंगलों को, पहाड़ों को·· नदियों, झरनों और झीलों को प्यार नहीं करती, बिलकुल नहीं । मुझे फूल भी अच्छे नहीं लगते, इतने कि मैं उन्हें प्यार कर सकूं । नदी एक-सी बहती है और डूब जाती है । पहाड़ ऐसे ही खड़े रहते हैं···लेकिन मुझे याद आती है उन स्वरों की जिनमें प्यार था और जो अब डूब चुके हैं । स्वरों की आत्माएं अभी भी मेरे चारों ओर भटक रही हैं तिलक ! सीधे-सीधे कहूं—मैं सिर्फ आदमी को प्यार करती हूं, उसे ही कर सकती हूं । यह पूरी प्रकृति मुझे अच्छी

सकी तरफ देखता रह गया था। आखिर मुझे घूरते हुए वह बोली,
क ! जो बात मैं कहने जा रही हूं, उसे बरदाश्त नहीं कर पाओगे।
क्यों ? ऐसी क्या बात है ?
इसलिए कि अभी इसी क्षण तुम्हारे खयालात मेरे बारे में बदल
एंगे। शायद तुम सोचो कि मैं बेशऊर और बेहूदी हूं।—और यह
हो सकता है कि…कहते-कहते वह रुक गई थी।
क्या हो सकता है ?
कुछ भी नहीं।
बताओ न—जो तुम्हारे मन में हो, कह डालो—मैं भी बताऊंगा
सब कुछ, जो मेरे मन में है।
—कुछ रुकते हुए उसने कहा, यही कि तुम अभी सच बोल सकते
हो क्योंकि मैं तुम्हारे पास अकेली हूं और इस सुनसान घाटी में कोई नहीं
है…यह छूट जब मिलती है तभी तुम लोग सही बात करते हो ! तुम
आदमी लोग ! तुम अच्छी तरह जानते हो कि इस वक्त तुम मेरे साथ
किसी भी तरह पेश आ सकते हो…मुझे बांहों में घेरकर अच्छी-
सी बात कह सकते हो, या मेरी बांह मरोड़कर नाराज़ हो सकते हो, या
दूर बैठकर दार्शनिकता बघार सकते हो। लेकिन यह सब इसी वक्त हो
सकता है, क्योंकि घाटी सुनसान है और मैं तुम्हारे पास अकेली हूं।…
एक क्षण के लिए वह खामोश हो गई थी। फिर बोली थी, अकेलापन
व्यक्तियों की सचाई खोलता है। यह अकेलापन बड़ा मोहक होता है
इसमें आदमी सब कुछ स्वीकार कर लेता है…अच्छा, बुरा…सुंद
असुंदर…
लेकिन ऐसा अकेलापन तो कई बार हम लोगों को मिला है।
तुमने कुछ क्यों नहीं पूछा ?आज ही क्या खास बात है ! कहते-कहते
लगा कि इरा का शरीर सूखने लगा है…ठीक वैसे ही जैसे डल पर
सूखी-सूखी हो गई थी। मेरी बांहों पर अपने नाखून गड़ाते हुए वह बो
दिन और वक्त खास नहीं होता—कोई बात ऐसी होती है जिसके
कोई दिन या क्षण याद में उलझा रह जाता है। मैं चाहती हूं यह
और सुनसान घाटी इस आज की बात की साक्षी रहे…यह आधी

का बीतता हुआ क्षण याद में उलझा रह जाए···

फिर एक गहरी सांस लेकर वह बोली थी—

तिलक ! मैं सब सुनती रही हूं आज तक···अब मैं ही बोलती जाऊंगी। मेरी जिन्दगी बगैर मंजिलों के चलती रही—मैं चिर-पथिक हूं! मेरा पड़ाव कहीं भी नहीं है। इन पहाड़ी रास्तों में जैसे लोग पैदल चलते हैं, वैसे ही मैं आज तक चलती रही हूं। रास्ते में कोई गंदी चाय की दूकान आ गई तो लोग वहां भी रुककर एक प्याली पी लेते हैं, क्योंकि और कोई चारा नहीं है···

हो सकता है। मैंने कहा।

इरा मुझे ताकने लगी—क्या मतलब ? हर बात को आदर्श के परदे में रखकर मत देखो, तिलक ! गंदी चीज पर भी परदा डाल दो तो उसकी झिलमिलाहट खूबसूरत लगती है। आदर्श का जामा जिन्दगी को मत पहनाओ···यह मुझसे नहीं सहा जाता।

इरा ! आखिर तुम चाहती क्या हो ?···या अब तक क्या चाहती रही हो ?···सही-सही बताना। मैंने पूछा था।

इरा ने बड़े प्यार से मेरी तरफ देखा था। अंधेरी रात में उसकी पुतलियां मोती-सी झिलमिलाने लगी थीं। नजदीक खिसकते हुए उसने कहा था—तिलक ! अपनी बांह रख लो मुझपर···या मेरी बांह पकड़कर पूछो यही बात। कहते-कहते वह बहुत तरल-सी हो आई थी। एक क्षण खामोश रहकर वह आगे बोली, यह बांह सौगंध होती है तिलक ! इसके बाद झूठ नहीं बोला जाता। और फिर जैसे इरा के भीतर रुका हुआ सचाई का झरना फूट पड़ा था···

—मैं इन जंगलों को, पहाड़ों को ' नदियों, झरनों और झीलों को प्यार नहीं करती, बिलकुल नहीं। मुझे फूल भी अच्छे नहीं लगते, इतने कि मैं उन्हें प्यार कर सकूं। नदी एक-सी बहती है और डूब जाती है। पहाड़ ऐसे ही खड़े रहते हैं···लेकिन मुझे याद आती है उन स्वरों की जिनमें प्यार था और जो अब डूब चुके हैं। स्वरों की आत्माएं अभी भी मेरे चारों ओर भटक रही हैं तिलक ! सीधे-सीधे कहूं—मैं सिर्फ आदमी को प्यार करती हूं, उसे ही कर सकती हूं। यह पूरी प्रकृति मुझे अच्छी

लगती है, पर इसे मैं प्यार नहीं कर पाती···कोई उस चीज़ को कैसे चाह सकता है, जो बदले में कुछ न बोले ! मैं सोच नहीं पाती उस प्रेम को, जो गूंगा हो ! जो कुछ दे न सके। देने को फिर चाहे भौतिक और शारीरिक सुख हो या आत्मिक वैभव। उसका चाहे जो कुछ अर्थ हो··· पर हो···निरर्थक प्यार विलास लगता है मुझे। और मेरी ज़िन्दगी की त्रासदी सिर्फ यही है कि मुझे निरर्थक प्यार ही मिला···जो भी मेरी ज़िन्दगी में आया उसने यही विलास किया मेरे साथ—क्यों कोई भी मुझसे खुलकर नहीं कह पाया कि जिन्दगी की शर्तें प्यार से बड़ी होती हैं···सब यही कहते रहे कि प्यार ज़िन्दगी से बड़ा होता है···लेकिन प्यार को जिन्दगी के मुताबिक काटते, सिलते और उधेड़ते रहे···

इतना कहकर इरा कुछ देर के लिए चुप हो गई थी। मैंने उसका कांपता हुआ हाथ अपने हाथ में ले लिया था। इतनी देर बैठने के कारण रात अब रात जैसी नहीं लग रही थी। पश्चिम की चोटियों पर कुछ घने बादल घिर आए थे और घाटी का पश्चिमी कोना थरथराता-सा लगता था। घास के उस मैदान में ऊबड़-खाबड़ नंगी चट्टानें मुंह उठाए जैसे किसी सचाई से साक्षात् के लिए खामोश खड़ी थीं। पैरों के नीचे देवदार की रोशनी और सेई के कांटे जैसी पत्तियों का बिछावन था, जिनसे बड़ी सोंधी महक फूट रही थी। नदी का पानी टूटी हुई वीणा के तार जैसा झनझना रहा था। पक्षी खामोश थे।

लिद्दरवट का पहाड़ किसी विशाल डबल रोटी के कटे हुए टुकड़े की तरह जमीन पर खड़ा था और उसपर चीनियों की दाढ़ी-मूंछों की तरह कहीं-कहीं लम्बी घास उगी हुई थी। चीड़ और देवदार के पेड़ सटे-सटे-से खड़े थे। सिर्फ, शायद बांहें पकड़ने की देर थी···खामोश सचाइयां उनमें से फूटने लगतीं।

···सभी ने विलास किया है मेरे साथ···इरा ने यह क्या कह डाला था ? मैं परतों को उधेड़ देना चाहता था। पीठ पर रखा हुआ मेरा हाथ जैसे संगमरमर पर थरथरा रहा था···देवदार की पत्तियों की बिछावन की तरह चिकनी देह से सोंधी महक फूट रही थी। और नदी का पानी चट्टानों पर खामोश पछाड़ें खा रहा था, जिसकी झनझनाहट में उसकी

पीठ पर महसूस कर रहा था। सब कुछ मेरी आंखों के सामने आज भी ज्यों का त्यों घूम रहा है। उस दिन सूनी घाटी में चट्टान पर बैठे-बैठे इरा ने अपनी कहानी सुनाई थी। कहानी इसलिए कह रहा हूं कि उसने सचाई बयान की थी। जिन्दगी बदसूरत भी हो सकती है, पर जिन्दगी की बदसूरती कहानी में सचाइयों के सामने रू-ब-रू खड़ी होकर नये अर्थ देने लगती है, इसलिए कहानियां बड़ी हैं, जो सदियां जीती हैं और जिन्दगी छोटी है, क्योंकि उमर के साथ उसकी सांस उखड़ जाती है।

आज जिन्दगी की सचाइयां क्षणों से परिभाषित हैं और कई-कई सचाइयां एक साथ समांतर चलती हैं। ताड़ के पेड़ों की तरह सत्य समांतर खड़े हैं। जिसने बने-बनाए सत्यों से अलग जितना ही 'झूठा' जीवन जिया है, उतनी ही नई सचाइयों का साक्षात् किया है उसने।

मुझे इरा की जीवन-गाथा एक ऐसे ही 'झूठ' के सिवा और कुछ नहीं लगी थी, इसीलिए आज उसकी आन्तरिक ईमानदारी को पेश करते मेरे हाथ कांपते हैं। और लगता है कि अगर मैंने उन बने-बनाए सत्यों के आधार पर उसके बारे में 'सब कुछ सच-सच' लिख दिया तो उसकी जीवित या मृत आत्मा को बड़ा सदमा पहुंचेगा। इसलिए मैं सब कुछ 'झूठ' लिखने पर उतारू हूं, जोकि बदसूरत ही हो सकता है—पर चूंकि इसे कहानी की शक्ल दे रहा हूं इसलिए मुझे विश्वास है कि यह बदसूरती कुछ और ही अर्थ देने को बाध्य होगी। क्योंकि जो कुछ खूबसूरत है, उसे 'सत्य' स्वीकारा जा चुका है···और जो कुछ अब तक स्वीकारा जा चुका है, सिर्फ वही जिन्दगी को नापने का पैमाना नहीं हो सकता··· स्वीकृत सत्यों के पैमाने से आज की जिन्दगी नप नहीं पाती···

उसने कहा था—

तिलक! मुझे बांहों में कस लो, तब मैं सब-कुछ सच-सच बता दूंगी। अगर मुझसे हटकर दूर बैठोगे तो मैं नाटक करूंगी—इतना अच्छा अभिनय कर सकती हूं मैं कि तुम भुलावे में पड़ जाओगे और मैं अनजाने ही तुमसे छल करूंगी। मेरा दोष नहीं होगा, तिलक! तुम मेरी बातों के

जाल में फंसकर यह समझने लगोगे कि मेरे जीवन में तुम्हारे सिवा और कोई नहीं आया आज तक। सचमुच कभी-कभी मुझे आश्चर्य होता है कि यह अभिनय मैं कैसे कर लेती हूं···मेरी आत्मा का कोना-कोना यादों से भरा हुआ है। मेरी आंखों में हर उस व्यक्ति की तस्वीर है जिसके साथ मैंने थोड़े-से भी दिन गुज़ारे हैं।

और जब-जब उसने मुझे बांहों में लेकर प्यार से पूछा है, इरा तुम अभी तक कहां थीं···तुमने किसीको प्यार क्यों नहीं किया ?···शायद तुम मेरे लिए ही थीं···तब···तिलक, तब मैंने हमेशा सब-कुछ बता डालने की कोशिश की। और यह समझा कि वह मेरी सारी खामियों के साथ जीवन-भर साथ देगा। पर ऐसा कभी नहीं हुआ···मैं बार-बार अकेली रह गई। बड़े गहरे-गहरे घाव लगे हैं मुझे। और उन घावों का खून अब कहीं भीतर चट्टानों की तरह जम गया है। आज मैं उन खूनी चट्टानों पर किसीको भी सुला सकती हूं। पर मेरी कमज़ोरी यही है कि आदमी के सिवा मैं किसीको प्यार नहीं कर सकती···इसलिए झूठ भी नहीं बोल पाती···

इरा की एक-एक बात रह-रहकर याद आती है···

उसने बताया था—मैं तब छोटी ही थी, पन्द्रह या सोलह साल की। दुनिया तब बड़ी अच्छी लगती थी। हर तरफ ताज़गी और रंग थे। मैं तितली की तरह उड़ती थी। कालेज में पहुंचते ही मेरे सपने बदलने लगे। मुझे अपने शरीर का अहसास हुआ। देखने वालों की आंखें मुझे सौंदर्य की अनुभूति देती थीं और तब मैं अपने शरीर से कुछ-कुछ डरने लगी थी। मुझे क्या होता जा रहा था ? मेरी हर सुबह कुछ न कुछ बदली नजर आती थी। मेरे बालों में रेशमीपन आ रहा था और आंखों के किनारे नदी के तट की तरह गीले होकर खुलते जा रहे थे। बांहें चन्दन की लकड़ी की तरह चिकनी और गंध-भरी होती जा रही थीं। मेरी आत्मा, जिसे मैं अब पहचान रही हूं, तब जैसे मुक्त होती जा रही थी। बड़ी रंगीन कल्पनाएं पंख पसार-पसारकर मेरी दुनिया में प्रवेश कर रही थीं।

और तब मुझे लगा था कि दादी की सुनाई कहानियां मेरे जीवन में

ही चरितार्थ होगी। कोई एक राजकुमार आएगा और रंग-भरी दुनिया के किसी एकान्त में मुझे उठा ले जाएगा···एक नया संसार मेरे सामने होगा और मैं पंख पसारकर उसमें मुक्त विहार करूंगी। तब हर हम-उम्र लड़का मुझे ऐसा ही राजकुमार लगता था और मैं आंखें चुरा-चुरा कर हर लड़के को देखती थी, उनके सपने बुनती थी और सपनों में वही कोई मेरा राजकुमार बनकर आता था - नीले आकाश की गहराइयों से वह उतरता था, और मैं फूलों से सजी उसका स्वागत करती थी··· सुबह उठकर मैं उसकी कही हुई बातें याद करने की कोशिश करती थी, पर कुछ भी याद नहीं रहता था। घटनाओं के धुंधले चित्र-भर याद रह जाते थे।

तब मेरा एक भगवान् भी था, जो नीले आसमान के ऊपर रहता था और मेरी हर बात को देखता और नोट करता था। सपनों में किसी राजकुमार ने मुझे छुआ नहीं, उसके स्पर्श की कल्पना-मात्र से मेरे शरीर में रोमांच हो आता था। बस हम एक-दूसरे को देखते और बातें करते थे। तिलक! कभी-कभी तो जागते हुए भी ये सपने दिखाई पड़ते रहते थे और मेरा तन पसीने से लथपथ हो जाता था। तब उठकर मैं घंटों बारजे पर घूमती रहती थी और सितारों की झिलमिलाहट देखती रहती थी।

एक राजकुमार ने मुझे मेरा सितारा दिखाया था—सबसे बड़ा सितारा, जो डबडबाई आंख की तरह चमक रहा था। आज मुझे, सच लगता है कि वह सितारा चाहे मेरा न रहा हो, पर उसका शाप मेरे जीवन का शाप अवश्य है।

मैं ऊपरवाले कमरे में रहती थी। मेरी आत्मा निर्बंध होकर फैल जाना चाहती थी—हर कला के साथ। मैं संगीत भी सीखती थी और नृत्य भी। रंग लेकर मानसिक भावनाओं के चित्र अंकित करने की कोशिश करती थी और शीशे के सामने खड़े होकर देर-देर तक अपने से बातें किया करती थी। मैं एक तरफ अपने में डूबती जा रही थी और दूसरी तरफ मेरी कला मुझे दूसरों के पास ले जा रही थी···

तभी मैंने एक नाटक लिखा—सपनों का राजकुमार। हमारी पत्रिका में वह छपा। उसके बाद मैंने कई नाटक लिखे, क्योंकि मैं दुनिया में

सीधे-सीधे बात करना चाहती थी और यह नाटक में ही हो
...क से सीधे-सीधे बात करना चाहती थी और यह नाटक में ही हो
...ता था। वार्षिक समारोह पर कालेज की सहेलियों ने मिलकर एक
...टक खेला—वही पहले वाला। उसमें मैं राजकुमारी बनी थी, तिलक !
...लिदास की शकुन्तला की तरह भोली और लज्जा-विनत। और सच-
...च जब मेरी ही एक सहेली राजकुमार का वेष पहनकर मंच पर आयी
...व मुझे पसीना छूट गया था। मेरा मन कांपने लगा था। शरीर का
...ंग-अंग पुलकित होकर शिथिल हो गया था। और सूखते गले से मैंने
अपने लिखे हुए संवाद कहे थे।···तिलक ! बड़ी अजीव-सी अनुभूति
हुई थी। हफ्तों मेरा रोम-रोम पसीजता रहा, गला सूखता रहा और मन
नीले आकाशों में भटकता रहा। फूलों के गहने पहने मैं घूमती। तुम
हंसोगे मेरी इन बचकानी बातों पर, लेकिन सच बताऊं···वे दिन मुझे
भूले नहीं भूलते। इम्तहान खत्म हो चुके थे। गरमियां आ गई थीं···
कभी-कभी अकेले में मैं बेला और मोतियों के गहनों से अपने को सजाकर
घण्टों खुली छत पर आंखें बन्द किए बैठी रहती। इस इंतजार में कि
कोई आकर मुझे धीरे से छुए। आंखें बन्द किए-किए ही मैं सपनों के राज-
कुमार का स्पर्श महसूस करती। मेरे शरीर में गुदगुदी होती थी···तब
मैं अपने आप ही घुटनों में अपना मुंह छिपाकर तन कस लेती थी। कभी-
कभी बहुत रोती थी, क्यों, यह मैं नहीं जानती। वह रोना भी कैसा
था ! आज के इन आंसुओं-सा खारापन तब नहीं था। मेरे सूखते ओं...
ढरक आए आंसुओं से नम और चिकने हो जाते थे···

और रात में मैं अमलतास के गुच्छों से अपना बिस्तर भर ले...
थी। चारों ओर अमलतास महकता था···और मैं बेसुध-सी सोई र...
थी।

मम्मी नहीं थी मेरी तिलक ! मैं नौकरानियों के हाथों में
थी। डैडी आर्मी में थे !

और इसके बाद मेरे जीवन का वह पहला अनुभव आता
यूनिवर्सिटी में पढ़ते हुए मैं नाटकों में अभिनय करने लगी थी !

तभी, उन्हीं दिनों एक नाटक-समारोह हुआ था शिमला में। शहर में कई क्लब थे, पर निमंत्रण सिर्फ एक क्लब को ही मिला था। उस क्लब के साथ मैं भी शिमला गई थी। क्लबवालों ने जरूरत की वजह से मुझे मेम्बर बना लिया था। हम लोग समरहिल में डाकखाने के पास वाले एक कॉटेज में ठहरे थे, जिसके चारों ओर पहाड़ियां और जंगल थे और नीचे स्टेशन।

वहीं, एक दिन···अब नाम बता ही दूं तुम्हें—विमल था उसका नाम। मैं उसे कुछ-कुछ चाहती भी थी। वह यूनिवर्सिटी में हमारे साथ था और उस क्लब का मेम्बर भी। मुझे वह अच्छा भी लगता था। हम दोनों कभी-कभी जंगल में होते हुए पैदल शिमला निकल जाया करते थे। उसका एक मित्र था, जो वहीं 'बिशप काटन' स्कूल के पास रहता था। हम दोनों एकाध बार साथ-साथ उसके यहां गए थे। वे हमारी स्वार्थरहित जिन्दगी के शुरू के दिन थे।

और एक दिन जब मैं उसके साथ जंगल के पथरीले रास्ते से चली आ रही थी, विमल ने मुझे जीवन में पहली बार छुआ था। मेरा रोम-रोम सिहर गया था, वह सिहरन मैंने फिर कभी महसूस नहीं की। आर्ट स्कूल के पास ही हम दोनों रुक गए थे। अंधेरा हो रहा था, मुझे डर भी लग रहा था, और यह ख्याल भी था कि साथ के लोग क्या सोच रहे होंगे! पर विमल बिलकुल निश्चिंत था। उसने मुझसे कहा, दोस्त के घर तक चलोगे जरा!

यह तो अभी बहुत दूर है। मैं नहीं चल पाऊंगी और अगर अब वहां गए तो लौटेंगे कब? मैंने कहा था।

उसके पास जीप है। वह हमें पहुंचा आएगा···

मैं अस्वीकार नहीं कर पाई थी, सपनों में जैसे कोई राजकुमार मुझे सहारा देकर ले जाता था वैसे ही मैं उसके सहारे-सहारे चली गई थी। वहीं विमल ने मुझे एक विश्वास दिया था—ड्रामा, हम-तुम दोनों रंगमंच के लिए समर्पित हैं। हम जीवन-भर इसीमें लगे रहेंगे···बात तो छोटी-सी थी, पर वह विश्वास बहुत बड़ा था, तिलक!

लेकिन मेरे इस विश्वास को वे ही नहीं समझ पाए थे। उनके लिए

में भाग लेना और नंगे होकर नाचने-गाने में कोई फर्क नहीं था। ी भी ये सब पसंद नहीं कर पाए। लेकिन मैं अपने विश्वास को ही जीना चाहती थी। सचमुच कितनी प्यारी दुनिया है रंगमंच। ज़िन्दगी के सारे उतार-चढ़ाव, दुख-सुख, पाप-पुण्य, सब दो घण्टे परिधि में सिमट आते हैं। पूरा जीवन, घर-गृहस्थी, सब रिश्ते, ा और प्यार, भावनाएं और कल्पनाएं इस छोटी-सी दुनिया में क्षणों परवान चढ़ती हैं। जीवन को गति मिलती है और विविधता—वह विविधता जो और कहीं नहीं मिलेगी। दो घण्टों में मैं पूरा जीवन जी लेती थी···जीवन को बार-बार दुहराती थी। किसे मिलता है यह अवसर तिलक! लोग अपनी ज़िन्दगी नहीं जी पाते। जीवन के अनुभवों को दुहराने से आत्मा पर निशान बन जाते हैं। जैसे पत्थर रगड़ से घिसता है, वैसे ही आत्मा की चट्टान पर ये निशान बन जाते हैं। यहां जीने की सार्थकता मिल जाती है। सार्थकता उन्हें ही मिली है जो दूसरों को अपने में उतारकर जिये हैं। जो अपने लिए जिए और मर गए, वे कीड़े थे···

कितना सुखद था वह दौर···विमल के साथ बीतते वे दिन···इसी च डैडी का ट्रांसफर हो गया था और मैं होस्टल में रहने लगी थी जब भी मौका लगता, विमल के पास चली जाती···

मैं नये नाटक की बात करती, विमल बैठकर सेट का डिज़ा बनाता, नये प्रभावों को रूप देने पर विचार करता। लेकिन दिन मुश्किल से कटते। मंच का गतिमय रोमांच और उसीके साथ ब हुए दिन। सब कुछ आसान नहीं था, बल्कि बहुत मुश्किल था।

वह मेरी पढ़ाई का आखिरी वर्ष था। इम्तहान देकर मैं डै पास गई थी और वहीं हमारी-उनकी लड़ाई हो गई थी। उन्होंने दिल्ली ड्रामा कम्पिटीशन में जाने से रोका था। मैं विमल को वच आई थी कि हफ्ते बाद मैं रिहर्सलों के लिए लौट आऊंगी···लेकि ने विकराल रूप धारण कर लिया था। वे किसी शर्त पर मुझे के लिए तैयार नहीं थे। कोई चारा नहीं रह गया था···आखिर मर्जी के खिलाफ नाटक की तैयारी के लिए विमल के पास

थी। कुछ दिनों तो मैं अपनी एक सहेली के पास रही, पर वह प्रबंध भी कब तक चलता ? दुनिया दिखाने के, लिए मैं कब तक अलग रहती ? उसमें रखा भी क्या था ! मैं खुल्लमखुल्ला विमल के साथ रहने लगी थी। और डैडी से सम्पर्क-सम्बन्ध—सब कुछ टूट गया था।

नाटक कम्पिटीशन के बाद दो साल तक मैंने और विमल ने दिल्ली में ही स्थायी रंगमंच स्थापित करने की जी-तोड़ कोशिश की···पर कर्ज के सिवा कुछ हाथ न आया। यहां तक कि हम पैसे-पैसे के लिए मोहताज हो गए···वह कुण्ठित होता गया और मैं उदास···

आखिर एक दिन जब हम दोनों पूरी तरह हताश हो चुके थे, विमल ने कहा था, तुम अपने पैरों पर खड़ी हो सकती हो, कहीं नौकरी क्यों नहीं कर लेती ? तब तक मैंने यह सोचा भी नहीं था। पर जीना तो था ही। डैडी के पास लौटकर जाने का अब सवाल नहीं उठता था। उनकी बेरुखी और ज़िद का जवाब भी मुझे देना था। सच बात तो यह थी तिलक, कि मां की मौत के बाद डैडी एक तरह से मेरे लिए खो ही गए थे। उनकी अपनी ज़रूरतें थीं···जो गलत भी नहीं थीं। लेकिन वे अपनी उस ज़िन्दगी को हमेशा मुझसे छुपाते रहे···शायद उन्हें यह लगता रहा कि जिस दिन वे अपनी सही ज़िन्दगी को मेरे सामने खोल देंगे, बाप के पद से नीचे गिर जाएंगे···इसीलिए वे हमेशा एक बाप की तरह मेरे साथ पेश आने की मजबूरी में कैद रहे। वे कभी मेरे लिए प्यार-भरे दोस्त नहीं बन पाए। मेरी चाहतों को नहीं समझ पाए ! वे हमेशा मेरे सामने सवाल बनकर ही खड़े हुए और हमेशा मुझसे जवाब ही मांगते रहे।

और यही जवाब देने के लिए मैं गहरे पानी में उतर गई। बातें तो बहुत छोटी होती हैं पर उनके जवाब बहुत बड़े हो जाते हैं। और जिस घर में मां न हो, उस घर के बच्चों को ज़िन्दगी-भर ये बड़े-बड़े जवाब देने पड़ते हैं—अपने अस्तित्व के लिए, आकांक्षाओं और सपनों के लिए, व्यवहार और सामाजिक स्थिति की गरिमा के लिए—यहां तक कि रहन-सहन और खाने-पीने के लिए भी।

मैं सब जवाब देने के लिए कमर कस चुकी थी, पर भीतर-भीतर बहुत डर रही थी, क्योंकि देह और प्यार से बड़ी चीज़ों का सामना अब

। तलखियों से आंखें चार होनी थीं। सचाइयों से मुकावला था।

ल ने किसीसे कहकर मेरे लिए नौकरी तलाश कर दी थी। पने होनेवाले मालिक से मिलने पहुंची तो दंग रह गई। दिल्ली दिखावट और सजावट की कमी नहीं, पर वतरा साहव का फ्लैट दा ही सजावटदार था। वड़ी ही शांति थी उसके यहां। उसके कोई भी नहीं था। वह विधुर था और उसकी कनपटियों के वाल छ सफेद हो रहे थे। उम्र चालीस के आसपास और नक्श आर्यों सकी आंखों में वड़ी करुणा-सी समाई हुई थी और ओठों पर ता की मुस्कराहट हमेशा रहती थी। उसने मुझे देखा, इज्ज़त से ा, चाय पिलाई और दूसरे दिन से काम पर आने की आज्ञा दे दी। मैंने काम की कैफियत जाननी चाही तो वह वोला—आपके लिए खास काम नहीं है। सिर्फ टेलीफोन-काल्स अटेण्ड करनी हैं, क्योंकि यादातर वाहर रहता हूं, आप सुवह दो घंटे आकर दस वजे जा ती हैं। फिर पांच वजे आ जाइए और आठ-साढ़े आठ वजे चली इए।

पहले तो मैं कुछ समझ नहीं पाई, पर वतरा के सलूक और शराफत में प्रभावित हुई थी। और सचमुच वतरा एक निहायत शरीफ आदमी ावित हुआ—इतना शरीफ कि उसकी शराफत लाचारी की हदें छूने गी।

तीन दिन वाद मैं काम पर जाने लगी। मेरा मन लगा रहे, इसलिए वतरा ने तरह-तरह की पत्रिकाएं मंगानी शुरू की थीं। मेरी मेज़ पर फोन रखा रहता था और मैं पत्र-पत्रिकाएं उलटती-पलटती रहती थी। कभी मन घवराता तो उठकर लॉन पर घूमने लगती। वतरा शराव का शौकीन था—जव वह शराव पिए हुए नहीं होता था, तव कुछ-कुछ उजड्ड और भयानक भी दिखाई पड़ता था। गिलास खाली करते ही उसके चेहरे पर करुणा आने लगती थी और आंखों की कोरें नम होकर वड़ी प्यारी हो जाती थीं। ओठों की मुस्कराहट से शालीनता विखरने लगती थी। वतरा की सज्जनता और निष्कपटता शराव पी चुकने के वाद ही

उभरती थी। उसे रिकार्डों का बहुत शौक था। पश्चिमी संगीत के बीच हिन्दुस्तानी का सिर्फ एक ही रिकार्ड उसके पास था, जिसे वह अक्सर सुना करता था—

गहर की रात और मैं नाशादो नाकारा फिरूं
जगमगाती जागती सड़कों पै आवारा फिरूं
गैर की बस्ती है कब तक दर-ब-दर मारा फिरूं
ऐ गमे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं···

आज भी तिलक, मैं बतरा को याद करती हूं···खास तौर से मुझे यह लाइन याद आती है जिसे दुहरा-दुहराकर वह व्याकुल-सा घूमता था—गैर की बस्ती है कब तक दर-बदर मारा फिरूं···गैर की बस्ती है···

और उस गजल की वे लाइनें मुझे भी अब सालती हैं। जैसे-जैसे मैं उमर काटती जाती हूं मुझे उन लाइनों के अर्थ साफ होते दिखाई देते हैं।···सुबह आठ बजे मैं जिस बतरा को देखकर हिकारत से आखें फेर लेती थी···उसीको मैं शाम को देखती तो मेरे दिल के किसी कोने में एक लगाव-सा हिलोरें लेने लगता, बहुत दिन तक मैं तय नहीं कर पाई कि बतरा के किस रूप को स्वीकार करूं और किसे नकार दूं। पहले मुझे लगा था कि शायद उसने मुझे अच्छा-खासा देखकर नौकर रख लिया था। और वह शायद किसी दिन प्यार की रंगीनी से भरकर मेरे सामने आए···मैं प्रतिकार के लिए हर तरह से तैयार थी पर बतरा कभी नहीं आया। हमेशा उसने काम की ही बात की। शाम को मेरे जाने के वक्त वह क्लब से वापस भी नहीं आता था। मेरा काम था, फोन करनेवालों का नाम और पता नोट करना, जिसकी लिस्ट बनाकर मैं उसकी मेज पर छोड़ जाती थी, बस। सुबह वह दिखाई देता तो बात करती, पर तब उसे देखने को मेरा जी नहीं करता था।

शायद आदमी की खूबसूरती उसकी बेहोशी में है, होश में आया हुआ आदमी बड़ा चलता-पुर्जा और छोटा लगता है। आदमियों की यही बेहोशी मुझे भाती है, तिलक! जो आदमी गिन-गिनकर कदम रखता है, वह मुझे निहायत ओछा लगता है।···

एक दिन बारिश हो रही थी···बतरा की कार सात बजे ही आकर पोर्टिको में रुक गई। मेरा मन आशंका से धड़क उठा। कार से उतरकर वह सीधा मेरे पास आया और बोला—कोई फोन आया था !

मैंने कागज़ का परचा उसकी तरफ बढ़ा दिया। एक नज़र उसने देखा और बोला—मेरी मेज़ पर लगा दो। उसकी अनुपस्थिति में कमरे में जाते मुझे दशहत नहीं होती थी, पर उसके होते हुए, और जबकि वह खुद कमरे में जा रहा था, उसका यह कहना मुझे मतलब से खाली नहीं दिखाई दिया। साहस करके मैं भीतर चल दी। पर हर क्षण मेरी आशंका के चौकन्ने कान उसकी आहट सुनते रहे।

और वह पीछे-पीछे आया। मैं बिजली की तरह तड़क उठना चाहती थी, पर तभी सुनाई पड़ा—मिस इरा, तुम अपने कमरे में अगर मेरा इन्तज़ार कर सको तो अच्छा हो।···जाने लगो तो मुझसे पूछ लेना। हो सकता है आज कुछ देर तुम्हें रुकना पड़े।

बंगले में कोई भी नहीं था। झाड़ियों की छायाएं रहस्य-भरी लग रही थीं। मैं कमरे में आकर चुपचाप बैठ गई। मन फिर भी शंकाओं से भरा था।

बतरा ने अपना दरवाज़ा बन्द कर लिया, पर खिड़की पर पहरेदार की तरह घूमती उसकी परछाईं साफ बता रही थी कि वह व्याकुल-सा चक्कर काट रहा है। सब कमरों में खामोशी थी। मैंने बाहर की बत्ती बुझा दी थी और चुपचाप लॉन में निकल आई थी। अंधेरे में वह दुमंज़िला मकान लोहे की सपाट दीवारों का बना लग रहा था और बतरा के कमरे की दोनों रोशन खिड़कियां चौकोर आंखों की तरह लग रही थीं। घास चुप थी। झाड़ियों की छायाओं ने हरियाली को सोख लिया था। पिछवाड़े का सूखा पेड़ विशाल कंकाल की तरह बांहें पसारे पूरे मकान को समेट लेना चाहता था। और बिजली के सीधे समांतर कसे हुए तार माथे पर पड़ी दुर्भाग्य की लकीरों की तरह अटल थे। आसमान सूना था और बतरा की परछाईं छटपटाती आत्मा की तरह उस सीमेंट के संदूक में कैद थी।

मेरा मन अकुला उठा···काश, कोई फोन ही कर दे तो खामोशी का

यह नागपाश बिखर जाए ! या आसमान से कोई घुन्नाता हुआ हवाई जहाज ही गुजर जाए ताकि तारीकी और मौत की चुप्पी का यह आलम गूंज जाए···लेकिन कुछ भी नहीं हुआ। दूर सड़क से एक कार तक नहीं गुजरी। बसेरे को जाते हुए पक्षियों का कोई झुण्ड ऊपर से नहीं निकला। कुछ दूर सड़क पर लगा बिजली का बल्ब ही अगर एकाएक बुझ जाता तो अंधेरा फैलने से भी जिन्दगी का एहसास होता···पर कुछ तो नहीं हुआ···बतरा की कैद परछाईं ही अगर रुकती तो भी शायद कुछ आवाज आती। कभी-कभी तेजी से भागती हुई सृष्टि भी एकदम रुकी-रुकी-सी लगती है, जैसे किसीने उसकी सांस खींच ली हो···तब किसी चीज का रुकना जिन्दगी का लक्षण बन जाता है, क्योंकि उसके रुकते ही एक लय में भागने की मजबूरी कई स्वरों में चीखकर रुक जाती है···

और मेरा मन हुआ कि मैं चीख पड़ूं ताकि सीमेंट के सन्दूक में कैद वह परछाईं डरकर रुक जाए, ताकि पिछवाड़े खड़े कंकाल पेड़ की बाहें चरमराकर टूट जाएं और खिड़कियों की चौकोर रोशनी की आंखें अंधेरे में डूब जाएं। लेकिन मेरी आवाज नहीं निकली। मैं डरी-सी घास पर बैठी रही···और कई पल के बाद कैद परछाईं की आवाज सुनाई दी—ओह गॉड ! ओह गॉड !

अगर दुनिया में आवाजें न होतीं तो यह कितनी बदसूरत और बेरौनक होती ! और आवाजों में अकेलेपन का दर्द न होता तो कितनी बेमानी और सूनी होती यह दुनिया ! अकेलेपन के दर्द में झिलमिलाती यादें न होतीं तो यह दुनिया कितनी उदास और खामोश होती ! और झिलमिलाती यादों में कसक न होती तो कितनी सीमित और झूठी होती यह दुनिया···और अगर यह कसक न होती तो सदियों पहले किसी जर्राह ने दिल को आत्मा का नाम दे दिया होता और मुट्ठी-भर गोश्त का वह टुकड़ा जिसका नाम आत्मा होता—मौत के साथ मर जाया करता।

अच्छा हुआ कि ऐसा नहीं हुआ। नहीं तो यह कीमती दुनिया कभी हमारे हाथ न आई होती···और आत्मा की अकुलाहट को किसी मर्ज का नाम मिल गया होता···और जैसे दिल की धड़कन का इलाज होता है वैसे ही शायद उसका भी इलाज होता···

ओह गॉड ! ओह गॉड ! ...आवाज़ अभी भी आती है और कैद परछाईं की आत्मा अकुलाती है।...अब भी यही लगता है मुझे, खैर... मेरे जाने का वक्त हो गया था। पर मैं हिम्मत नहीं कर पा रही थी कि बतरा के पास जाकर कहूं...अब मैं जा रही हूं।

इसी सोच में बैठी हुई थी कि बाहर वाले बरामदे की रोशनी जली और बतरा बाहर आया। भीगी हुई घास में मेरे कपड़े भी नम हो गए थे। देखते ही मैं उठ खड़ी हुई। पास आकर बतरा ने कहा—यहां आओ, मेरे साथ। और उसकी भरी-भरी उदासी के सम्मोहन से खिंची हुई मैं चली गई।

कमरे में पहुंचकर बतरा ने एक तस्वीर की ओर इशारा किया—इसे देखो।

बड़ी खूबसूरत तस्वीर थी वह। सौन्दर्य से भरी-पूरी, पर बहुत सादा। ऐसा सौन्दर्य था उस महिला का जो मन को विभोर कर लेता है। हिचकिचाते हुए मैंने पूछा—यह आपकी पत्नी...

बतरा बिलकुल मुक्त होकर हंस पड़ा...ओह गॉड ! क्या बकती हो ? और वह हंसता रहा। कुछ क्षण पहले सुने हुए ओह गॉड औ
—स समय कहे हुए उसी शब्द में ज़मीन-आसमान का अन्तर था। बत
र क्षण मेरे लिए रहस्यमय होता जा रहा था। वह बोला—मैं न
जानता कि यह किसकी तस्वीर है...सचमुच नहीं जानता। दंगों में ज
रावलपिण्डी से भागा था तो लाहौर स्टेशन पर कत्ल किये गए लोगों
सामान के बीच धूप में इसका चौखटा चमकता नज़र आया था। त
मैंने इस तस्वीर को देखा था और देखता रह गया था...वहीं से, मौत
घाट उतरे लोगों की बतौर यादगार, मैं इसे किसी तरह लेता आय
इसका चौखटा सोने का है, यह यहां पहुंचने पर पता चला। मा
नहीं, लानेवाला इसे इस कीमती चौखटे के लिए ला रहा था या तस
के लिए...मैं इसे उठा ही लाया। यह मेरे पंजाब की तस्वीर है।
मेरी मां से भी बहुत मिलती है, बीबी से भी और बहन से भी...

मैं चुपचाप सुनती रही। एकटक उधर देखने से बाद वह ए
बोला—तुमसे भी बहुत मिलती है यह तस्वीर !

मैं सकुचाकर रह गई। कुछ समझ ही नहीं पाई कि क्या जवाब दूं… और दिन यूं ही गुजरते गए।…

विमल इस बीच बेतरह टूट गया था। उसका व्यवहार कभी-कभी बहुत रूखा हो जाता था। वह एक ही बात कहा करता था—अब इन क्लासिकल नाटकों से काम नहीं चलेगा, हमें कुछ और करना होगा…

मेरी समझ में नहीं आता था कि वह 'कुछ और' क्या करना चाहता था? कभी-कभी वह पैसेवालों के पास अनुदान के लिए भागता था, कभी कहीं अर्जी देता था…पर जैसे नाटक वह करना चाहता था, उनके लिए कहीं से मदद नहीं मिल रही थी। हमारा ट्रुप बिखर गया था…वह सचमुच बहुत अकेला रह गया था। हारकर वह फैक्टरियों के ड्रामेटिक क्लबों के साथ दशहरे-दीवाली पर रामलीला तक करने लगा था… परिवार नियोजन के लिए प्रचारवादी ड्रामों में हिस्सा लेने लगा था… और यह सब करते हुए वह बुरी तरह से पराजित हो गया था…इसी बीच उसके कुछ नये दोस्त बने थे, जो घर पर जमा होते थे। वे सब न जाने कहां-कहां की बातें किया करते थे। मेरी समझ में ये बातें नहीं आती थीं। सत्ता, सरकार, पूंजीवाद, शोषण और अर्थव्यवस्था की। वर्ग-संघर्ष की।

और एक दिन विमल मुझे अकेला छोड़कर कहीं चला गया।… अपनी पराजय और अकुलाहट को लिए हुए। कई बरस उसका पता ही नहीं चला। फिर मालूम हुआ कि वह आंध्र में क्रांतिकारियों के साथ है और वहीं कहीं पकड़ा गया है।

तिलक! खूबसूरत और मासूम तस्वीरें सोने के चौखटों में बन्द हैं, कुछ करके जीने की चाह रखनेवाले कुत्तों की तरह इधर-उधर भटक रहे हैं या पकड़े जा रहे हैं और ऊपर गॉड का साया है जो शराब पीकर शराफत से घूम रहा है।

बतरा के यहां मुझे नौकरी दिलवाकर विमल स्वयं अपने में पछताता रहा था। क्योंकि मेरे नौकरी कर लेने के बाद वह खुद सोच कि

सिर्फ फोन रिसीव करने के लिए किसीको नौकर रखने की क्या ज़रूरत हो सकती है? अगर रखा भी जाए तो चार सौ रुपये वेतन के क्यों दिए जा रहे हैं?

कभी-कभी विमल से मेरी लड़ाई भी होती थी, इसी बात को लेकर, और वह मेरी खाट से उठकर चला आया करता था। दो-दो दिन हम नहीं बोलते थे, पर बाद में किसी बात पर वह तरल हो जाता था और मुझे प्यार से पकड़कर गलती मान लिया करता था।

तिलक! मैं गवाह हूं इस बात की, कि जब आदमी का विश्वास टूटता है, तो वह दृश्य कितना दारुण होता है। मैं शुरु-शुरु में समझ ही नहीं पाई थी कि विमल के भीतर कौन-सा ज्वालामुखी उबल पड़ने के लिए मचल रहा था। एकांत क्षणों में वह मुझे समझाता था।...अकेले नाटक कैसे जी पाएंगे? इसके लिए पूरी सांस्कृतिक हवा का बदलना ज़रूरी है...जब तक लोगों के रुझान नहीं बदलेंगे, नाटक सफल नहीं होंगे...लोगों को हंसाने और उनकी शामें रंगीन करने के लिए मैं कब तक इन घटिया नाटकों से घिरा रहूंगा...एक तरफ वह यह बातें करता था और दूसरी तरफ वह इस बात को लेकर भी दुखी था कि मुझे नौकरी करनी पड़ रही है। वह मुझपर ऐकांतिक अधिकार चाहता था। मुझे वह कभी-कभी बड़ी अजीब नज़रों से देखता था...बतरा के बारे में जान-बूझ कर वह मुझसे कभी कुछ नहीं पूछता था...और उसका यह न पूछना ही बहुत खतरनाक था...अब मुझे लगता है कि उन दिनों निश्चय ही उसके मन में बार-बार यही बात उठती थी कि मैं बतरा के साथ किसी समझौते पर पहुंच गई हूं। अपने शक के बावजूद वह मुझे बरदाश्त करता था। हर सातवें-आठवें रोज़ वह झगड़ पड़ता था, बिना किसी बात के, और फिर अपने-आप ठीक हो जाता था। लेकिन उन दिनों मैंने देखा—वह अन्तर्मुखी होता जा रहा था और जान-पहचान वाले सभी लोगों को शक की निगाह से देखता था। हर उस व्यक्ति की, जिसकी उसने पहले कभी तारीफ की थी, वह बुराई करने लगा था...फिर भी इतना बुरा नहीं था यह सब, पर उसका विश्वास लगातार टूटता जा

रहा था।

एक बार उसने नाटक करने की पूरी तैयारी की—दिन-रात कापियां बनाता रहा, सेट डिजाइन तैयार करता रहा और प्रकाश-व्यवस्था के बारे में सोचता रहा, पर लोगों ने उसे वचन देकर भी सहारा नहीं दिया।

वह हताश हो गया। बीमारों की तरह दिन-दिन-भर वह पड़ा रहता। और रात को जब मैं लौटती तो उसे उदास देखकर बहलाने की कोशिश करती…कुछ देर बाद वह मेरे शरीर की ओर चाहत से देखकर हंसने मुस्कराने लगता। उसके मन पर जमा हुआ अवसाद और पराजय जैसे कुछ-कुछ हटने लगती—कुछ घंटों के लिए विमल पहले-सा सुंदर, मुक्त और प्रखर लगता। हम साथ-साथ लेटे हुए फिर सपने बुनते और यह उम्मीद करते कि अंत में हमें सफलता मिलेगी। पर यह बहुत अजब बात थी कि उन दिनों उसकी भावनाओं का जोश, कल्पना की प्रखरता और आत्मविश्वास सिर्फ उन क्षणों में ही उभरता था, जो मदहोशी के होते थे।…शायद तब उसका समग्र पौरुष सार्थकता पाने के लिए मचलता था…

जो और जितने भी थे, पर वे क्षण बहुत कीमती थे—शरीर की प्यास के नहीं, आत्म-विश्वास के! हम दोनों अपनी स्थितियों से पूरी तरह परिचित होते हुए, अपनी कंटीली सीमाओं को समझते हुए भी ऐसी योजनाएं बनाते थे, जो पूरी होनी मुश्किल नहीं दिखाई देती थीं…

हमारे घर के सामने एक सेमल का पेड़ था।

वह पेड़ आज भी मेरी स्मृति में उलझा हुआ है।

उसके तने पर कांटे थे…ऊंचाई बहुत थी उसकी, और खुली हुई बांहें आसमान की नीली पृष्ठभूमि पर फैली हुई थीं और शाखों में मांसल लाल फूल थे।

विमल जब सपनों की बातें बड़ी गंभीरता और जोर-शोर से करता था तब उसकी बांहें भी सेमल की बांहों की तरह मजबूती से फैली होती थीं…उसके शरीर पर पसीने के कांटे उभर आते थे और मैं मुग्ध-सी देखती रह जाती थी—एकदम सम्मोहित! मन होता था उन मजबूत

बांहों के विस्तार में मैं फैल जाऊं और पसीने के सब कांटे मेरे शरीर में दहकते दंश की तरह विंध जाएं और मांसल लाल फूल मेरे शरीर से खिल उठें…

लेकिन विमल को भी वे ईमानदारी-भरे क्षण कभी-कभार ही मिलते थे। विश्वास के वे क्षण उसके पास भी कम होते जा रहे थे। वह खुद मजबूर था। दिन-ब-दिन उसका मन शंकालु होता जा रहा था। अब वह बड़ी मुश्किल से किसी भी बात को सच मान पाता था। विमल जैसा आंख मूंदकर बात मान लेने वाला आदमी अब खुली आंखों देखते हुए भी किसी बात पर एकदम विश्वास करने को तैयार नहीं होता था।

बतरा के बंगले के आस-पास वह चक्कर काटता, और मुझसे अपने मन के चोर को छिपाता था। अहं उसका इतना बड़ा था कि चाहते हुए भी वह मेरे सामने एकदम खुल नहीं पाता था। मैं जब आठ बजे काम खत्म करके बस से लौटती तो एकाध बार वह मुझे वहीं आस-पास मिल गया। जहां तक मुझे पता था, उस बस्ती में उसका कोई दोस्त भी नहीं रहता था। पर वह झूठमूठ उधर आने का कारण बता ही देता था। पहले तो मैं नहीं समझी पर जब वह मेरे घर पहुंचने के घंटे-आध घंटे बाद पहुंचने लगा तो मुझे यकीन हो गया कि विमल निश्चय ही अपनी घुटन और मानसिक असंतोष के कारण बतरा के बंगले की ओर रोज़ जाता था। उसकी नाकामी और असंतोष ने क्या-क्या रूप लेने शुरू कर दिए थे,!

एक दिन मैंने उसे अपने पीछे-पीछे आते देख ही लिया, पर यह जानने के लिए कि वह क्या करता है, मैं अनजान की तरह चलकर बस-स्टाप पर रुक गई। वह एक पेड़ के अंधेरे में तब तक खड़ा रहा, जब तक बस में चढ़कर मैं चली नहीं आई। और उस दिन भी वह हमेशा की तरह एक घंटा देर से घर आया। मैंने पूछा—कहां चले जाते हो, विमल? तो उसने वही पुराना जवाब दे दिया—मैं चांदनी चौक गया था। मन में आया, कहूं कि सुन्दर नगर में अभी एक घंटा पहले कौन घूम रहा था? पर उसकी घुटन इतनी भारी लगती थी कि मैं कुछ भी नहीं बोल पाई।

विमल का इस तरह घुटना और अपने को सताना मुझे बहुत दुःख

देता था। मन में आता था कि नौकरी छोड़ दूं तो विमल के दिल-दिमाग पर कुण्डली मारकर बैठा हुआ यह घोर संशय का सर्प शायद मर जाए। पर ज़िन्दगी बड़ी ज़ालिम है। नौकरी छोड़ने का मतलब था भूखों मरना।

मेरे डैडी इस बीच दो बच्चों वाली उस खूबसूरत विधवा से शादी कर चुके थे। और ऊधमपुर छावनी में पोस्टेड थे...यह मुझे मालूम पड़ा था, पर मुझे अब लेना-देना क्या था...कभी-कभार मन में कुछ आता भी था, तो वह भी उनके शादी कर लेने के बाद समाप्त हो गया था।

विमल की उदासी से मेरी हिम्मत टूटती थी। उसकी आंखों में जो सपने धीरे-धीरे दम तोड़ रहे थे, मुझे बड़ी पीड़ा देते थे, पर मेरे पास कुछ भी ऐसा नहीं था कि मैं उसके लिए कुछ कर सकती। मन, आत्मा और शरीर उस समय एकदम झूठे पड़ जाते हैं जब आदमी के पास काम नहीं होता। सबकी निरर्थकता सामने आने लगती है। आत्मा की उन्मुक्त उड़ान, मन का सौन्दर्य और शरीर का अबाध उपभोग तभी ताक़त देता है जब व्यक्ति के पास कुछ करने को होता है।

बतरा के घर के चारों ओर रात के आठ बजे तक अकुला-अकुलाकर चक्कर लगाते हुए विमल की छाया मुझे अब भी दिखाई पड़ती है। आदमी छायाओं में बदलकर कितना दुःख पाता है...बतरा की छाया, और उसके बाद उसी तरह भटकती विमल की छाया...

और एक दिन बेहद हताश होकर विमल बम्बई चला गया। वहां से सिर्फ तीन लाइनों का खत मुझे मिला था—इरा, मैं घबराकर यहां चला आया हूं। जल्दी ही आऊंगा, तुम तैयार रहना, यहां ठीक होते ही तुम्हें भी बुला लाऊंगा...

बस।

पर तिलक! यह तुम्हारी दुनिया बहुत कमीनी है। यह बगैर आदमी के रह ही नहीं सकती।...चाहे उसके

या भाई, या बाप। कोई न हो तो नौकर ही हो। पर आदमी की छाया जरूर चाहिए। यह विधान कैसा है ? तुम इसे नहीं समझ सकते, क्योंकि तुम औरत नहीं हो। पर मैंने बड़ी गहराई से यह महसूस किया है। किसी भी आदमी की आड़ में—चाहे वह आदमी काठ का ही हो··· अच्छी-से-अच्छी और बुरी-से-बुरी जिन्दगी शान से चल सकती है, पर बगैर आदमी के न वह अच्छी जिन्दगी जी सकती है और न बुरी।

इसलिए हर लड़की एक कवच ढूंढ़ती है—वह चाहे पति का हो, भाई या बाप या किसी झूठे रिश्तेदार का। इस कवच के नीचे वह अच्छा या बुरा हर तरह का जीवन बिता सकती है। उसे पहनने के लिए जैसे एक साड़ी चाहिए वैसे ही यह कवच भी चाहिए।

विमल के जाते ही मैं नंगी हो गई थी।

और बहुत सोचने-समझने के बाद मुझे बतरा से ही कहना पड़ा, कुछ मजबूरियों के कारण अब मैं वहां नहीं रह सकती जहां रहती आ रही थी···अगर कुछ दिन के लिए आप मुझे एक कमरा दे दें तो सुविधा होगी। एकाध महीने में मैं इन्तजाम कर लूंगी।

बतरा ने इनकार नहीं किया।

मैं सामान उठाकर उसीके फ्लैट में पहुंच गई। साथ में नाटकों की किताबों का एक पुलिंदा था, जिन्हें विमल ने इकट्ठा किया था। वह मेरी सबसे बड़ी धरोहर थी।

विमल ने मेरी मजबूरी को नहीं समझा। मैंने सब समझाते हुए उसे खत लिखा था कि क्यों मुझे बतरा के यहां आना पड़ा। पर विमल कुछ भी नहीं समझ पाया। न फिर वह लौटकर आया, न उसने मुझे कोई खत लिखा। उसका भ्रम उसे खा गया।

बहुत देखा और बहुत सहा है मैंने, तिलक ! लोग आत्मा की बात करते हैं, पर तन पर ऐकांतिक अधिकार चाहते हैं—ऐसा अधिकार जो उनकी वासना की घड़ी के मुताबिक चलता है। रात को दो बजे उठाकर वे एकाएक प्यार-भरी आंखों से देखने लगते हैं। भरे बाजार में चलते-चलते वे चार जरूरी काम छोड़कर एकदम घर लौट सकते हैं या

चटखती धूप में गरमी की बात करते-करते वे आत्मिक मिलन का दार्शनिक आधार समझाते हुए नितांत भौतिक स्तर पर उतर सकते हैं। उनके लिए बुरी-से-बुरी औरत एक क्षण में पूरी तरह अच्छी बन सकती है, अगर वह उन्हें समर्पित हो जाए। पाप और पुण्य के ये मूल्य समांतर चलते हैं। इनमें कोई विरोध नहीं है। अगर विरोध कहीं है तो धर्म और आचरण की पोथियों में या ऐकांतिक अधिकार प्राप्त न कर सकने वाले व्यक्ति की दूषित और कुण्ठित मानसिक गुंजलकों में।

आज मैं किसीके लिए निहायत बुरी औरत हो सकती हूं, तिलक ! पर अगर उसीको अपना तन दे दूं तो बहुत अच्छी हो जाऊंगी। चार दिन बाद वह मुझसे छिटककर अलग जा सकता है, पर फिर कभी मुझे बुरा नहीं कहेगा, बल्कि अपने अहं में चूर होकर दया देने की कोशिश करेगा। वह मेरा मसीहा बनने की कोशिश करेगा, क्योंकि तुम्हारे इस समाज में हर आदमी कुछ करने आता है और हर औरत कुछ भोगने आती है। इसी लिए हर क्वारी मां की कोख से तुम्हारे प्यार-भरे पापों ने जबरदस्ती संतानें पैदा की हैं और उन संतानों को तुमने पैगम्बरों का दर्जा दिया है।

खैर, मैं रौ में बहकर बहुत कुछ कह जाती हूं···पर तुम पहले आदमी हो तिलक, जिससे मैं अपने मन की कुछ बातें कह पा रही हूं, कितना अनकहा रह जाता है, ऐसा—जो किसी से भी नहीं कहा जा सकता। अकेलापन यहीं से पैदा होता है। कहने की अकुलाहट जब मुंह नहीं खोल पाती तो भीतर-भीतर घुमड़ती है।

आज कोल्हाई के रास्ते की इस घाटी में मैं तुमसे कुछ कहने की कोशिश कर रही हूं ताकि मेरा यह अकेलापन टूट सके। मैं जानती हूं कि तुम्हारी नजरों में इस वक्त मैं बहुत गिर गई हूं, पर क्या करूं, कभी-कभी अपने को नीचे गिराने में भी रस आता है। आदमी वह सब भी अपने से जोड़कर देख डालता है जो उसने कभी नहीं किया, जिसे वह गलत समझता है और शायद जिसे वह कभी नहीं करेगा।···

और ऐसी ही भटकी-भटकी तमाम बातें करती रही इरा। कुछ दे के लिए हम दोनों ही खामोश हो गए थे। घाटी में सुबह होने वाल थी। चारों तरफ के पहाड़ और जंगल एक परकोटा बनाए हुए थे औ हम दोनों उसके अकेले बाशिंदे थे। जब कभी बातों में खामोशी आतं तो कोल्हाई के पानी का शोर उभरकर ऊपर आ जाता। बदन कुछ कुछ भारी हो रहा था। हमें यह खयाल ही नहीं रह गया था कि सुबह उठकर कोल्हाई ग्लेशियर जाना है।

शायद इरा ग्लेशियर जाने के लिए आई भी नहीं थी। यह तो घूमने का बहाना-भर था, अपने मन को तसकीन देने का एक तरीका। उसने अपने बाल खोल लिए थे और उस चट्टान पर बांह का सहारा लेकर लेट-सी गई थी।

मैंने कहा, नींद आ रही हो तो डाक बंगले में चलें।

वह बोली—मुझे नींद कहीं भी नहीं आती। जब मन या तन से थक जाती हूं तभी पलकें भारी होती हैं। आज तो मन का बोझ हलका कर रही हूं तिलक। आज के बाद ज्यादा से ज्यादा यही होगा कि तुम मुझसे दूर चले जाओगे और मेरी कहानी अपने दोस्तों को सुनाओगे।···कभी मुझे अच्छा समझोगे या बुरा। कभी ठीक समझोगे या गलत। लेकिन तुम्हारे समझने से न मेरा भला होगा और न बुरा। हां, शायद मैं बाद में पछताऊं कि तुमसे मैंने क्यों यह सब कहा। यही तो धरोहर है मेरी, जिसे मैं अपने पास रख सकती थी और आज तक रखे हुए थी।···

लेकिन तुम मुझे एक मुसाफिर की तरह ही मिले हो। मैं नहीं जानती कि जिन्दगी में तुम्हारी क्या जिम्मेदारियां हैं और क्या विचार हैं ? मुझे उनसे कुछ लेना-देना भी नहीं।

बहुत सोचकर झिझकते हुए मैंने इरा से पूछा—सोलंकी को कैसे जानती हो ?

इरा खिलखिलाकर हंस पड़ी। पीठ पर पड़े रेशमी बाल सरसराने लगे···और उसके चेहरे की एक-एक रेखा हंसते हुए उभर आई। उसके ओंठों में जैसे रस भर आया और नक्श तीखे हो गए। पहली बार हंसी थी इरा इतने खुलेपन से। मैं उसकी हंसी की आवाज को

पीता रहा और एकटक उसके बेहद खूबसूरत चेहरे को ताकता रहा। इरा के रूप के कई पहलू थे…कुछ को मैंने देखा था और कुछ शायद और देख पाता…

मेरे सवाल पूछने से वह खिलखिलाकर हंसी थी…रसवंती इरा ! हंसते-हंसते उसके अंग-अंग में रस भर आया था। अंगों की चिकनाहट बढ़ गई थी…कानों की लवें गुलाबी कोंपल की तरह नरम और गुदारी हो आई थीं। फैले हुए ओंठों से पड़ती लकीरों ने गालों को अछूती-अनदेखी नरमी से भर दिया था। उसकी बांहें केले के खुलते हुए पात की तरह कोमल हो गई थीं और उंगलियां रूई की बनी लग रही थीं, जिनमें नाखूनों की जगह गुलाब की लम्बी पखुड़ियां चिपकी हुई थीं। आंखों की पलकें नरम सीप की तरह थीं और कानों के पास बालों की लट सेम के अंकुर की तरह लिपटी हुई झिझक रही थी।

उसके शरीर के अंग-प्रंग, पोर-पोर में जैसे लाखों-करोड़ों गोरी-गोरी कोंपलें विकसित हो आई हों…भीतर लाखों रसस्रोत फूट पड़े हों और उनकी गंध-धार ओंठों के तट तक आकर भीतर-भीतर लौट जाती हो। गीले तटों से ओंठ और आंखों के पारदर्शी पानी में उन लहरों की पड़ती हुई प्रतिच्छाया…तन की घुमड़ती लहरियों से मांसल गहराइयों में पड़ती हुई भंवर !

कमर के ऊपर भंवर नाभि की परिधि में पड़ती सर्पिल मांसल लहरें। और अथाह गहराइयों की तरह थरथराता हुआ रस-प्लावित सागर शरीर…सचमुच उस क्षण वसंती रसवंती थी इरा…

और उसके रूप का वह रुख…जो डल पर चश्माशाही की पहाड़ियों को देखते हुए उभरा था, जब भीगी आग में जलते हुए मैंने उसकी चूड़ियां सरकाने का उपक्रम करते हुए उसके शरीर पर पहली बार हाथ रखा था…

उसकी वही चिकनी त्वचा तनाव से भर गई थी। शरीर का सारा रस जैसे निचुड़कर भीतर समा गया था। उसका रोम-रोम भर आया था। आंखों में नीलापन भरने लगा था और ओंठों पर मादक सूखापन

या था, जैसे रसधार भीतर समा गई हो और तटों की किनारियां
हो गई हों। सौन्दर्य के विखरने में भी एक अद्‌भुत सौंदर्य होता

पतझर का सौन्दर्य। वैसी ही थी इरा उस दिन। माथे पर बालों
लटें रस-रिक्त वन-घास की तरह हिल रही थीं। जैसे पतझर में दूर-
र के दृश्य साफ हो जाते हैं, दृष्टि की सीमा बढ़ जाती है, उसी तरह
रा के पतझरे-तन की एक-एक टहनी साफ थी···और आंखों का नीला-
काश दूरियों तक खुल गया था···पतझर के रूखे वैभव की तरह था इरा
का सौन्दर्य···उसके शरीर में गरम हवाओं की सनसनाहट थी और शब्द
उड़ते पत्तों की तरह बोल रहे थे। उसके बालों की फिसलन में सूखी
घासों से बहती हवा की उदास आवाज़ थी, और झील के पानी में आग
लगी हुई थी।

और रोशनी में झिलमिलाते उस पार्क में···जब मैं उसके साथ एक
अंधेरे कोने में रेलिंग के सहारे खड़ा था···
नीली झील का पानी छिटक रहा था···जब मैंने अपने ओंठ इरा के
ड़े के नीचे रख दिए थे और घुले हुए केशों की भीगी-भीगी ठंडक
लकों से आंखों में उतर गई थी, तब इरा की पलकें नम हो आई थीं
और उसके भीतर हुई बरसात का भीगापन पूरे शरीर के रंध्र-रं
में समा गया था···पीठ की मांसल चट्टान गीली हो आई थी···ब्लाउ
की किनारियां नमी से चिपक गई थीं। ओंठ धुले-धुले-से हो गए
और बरौनियां भीगकर कोमल कांटों की तरह नुकीली हो गई थी
बालों के उड़ते हुए रेशमी रोएं माथे और कनपटियों पर चिपक गए
वह जैसे बारिश में नहायी हुई खड़ी थी···आंखों में बादल
रहे थे और उसके पसीजे शरीर में धीमे-धीमे बिजली की चुम
शक्ति दौड़ रही थी, जो हल्के-से हाथों को जगह-जगह रोकती
भाप की शीतलता-भरी नम गरमाहट थी उसके तन में, जो पा
को भी नमी से भर देती है···और जैसे बरसात में नहाकर
आता है, वैसा ही मादक खारा स्वाद ओंठों में रिसकर रह गय

उसका अंग-अंग बरसाती बादलों की तरह घुमड़ रहा था और पूरे शरीर पर नीलम परछाईं चमक रही थी···

बादल-भीगी इरा! उसके चारों ओर भीगी वन-घास की गंध उड़ रही थी। स्निग्ध शीतलता के ज्वार उमड रहे थे···

और उसके सौंदर्य का चौथा रूप तब देखा था जब वह सोलंकी पर बिफर उठी थी।···

जब उसका अंग-अंग पलाश फूलों-सा दहक उठा था और उसकी देह की चमक बिछलती धूप की तरह चौंधिया रही थी। उसके भीतर का शीशा एकाएक झनझनाकर टूटा था और उसकी किरचों से बिंधा इरा का शरीर चकमक कर रहा था।

आंखों में आग जल रही थी। ओठ अंगारों की तरह दहक रहे थे··· मुख के उठे हुए हिस्से उस आग की तपिश से तांबे की तरह दमक रहे थे। कंधों से नीचे आई हुई बालों की लटें छाती पर नीली लपटों की तरह मचल रही थीं। कानों की लवें जैसे उस गरमी में पिघलकर बूंद की तरह चू पड़ने के लिए और गोल हो रही थीं। और उसके शब्द आग में चटखती बड़ी चिनगारियों की तरह बिखर रहे थे।

लू-भरी दोपहरी की तरह सुनसान था—उसका तन और मन। भीतर गरमी में सब जल गया था और···इरा उस खोखले पेड़ की तरह खड़ी रह गई थी, जिसके तने में बनजारे आग लगा देते हैं और वह भीतर-भीतर जलकर भी जड़ के सहारे खड़ा रह जाता है।

उसकी बांहों की नीली नसें चमक आई थीं···और गरदन से पसीने की बूंदें ऐसे ढरक रही थीं जैसे शमा की शिखा के नीचे गरम मोम पिघलकर ढरकता है।

गरमी की दोपहरी की तरह अकेली भर्राती हुई इरा! अग्नि में दहकी इरा।

···और इन रूपों के भी कई-कई स्तर हैं, जो मेरी नजरों के सामने घूम रहे हैं। कैसे बयान करूं, यह मेरी समझ में नहीं आता। प्रकृति के

रूप हो सकते हैं, सब उसमें छिपे थे। उसकी कोमलता, कठो-
पता, नीरसता और मस्ती—सभी कुछ उसमें था।
सामने वह खुलती चली गई थी।…
फसोस इतना ही था कि सब-कुछ बता चुकने के बाद उसने भारी
ले रूखी आवाज़ में कहा था—अभी भी कुछ ऐसा बाकी है जो मैं
नहीं बता सकती, शायद किसीको नहीं बता सकती…
हर ज़िन्दगी में ऐसा कुछ ज़रूर रह जाता है जो कहीं भी, किसीके
ने नहीं खुलता, आदमी के साथ दफ़न हो जाता है।

सबके बारे में बात करते हुए भी इरा उस विमल को नहीं भूल
ई थी, सोलंकी के बारे में पूछते ही वह हंसी थी। हंस चुकने के बाद
सने बताया था—सोलंकी से मेरी मुलाकात वहीं बतरा के साथ एक
ार हुई थी, वोल्गा होटल में ! …

बतरा के बारे में भी इरा बहुत कुछ बताना चाहती थी। उस क्षण उसने सोलंकी के बारे में इतना ही और कहा था—उसके बारे में बात मत करो, नहीं तो नींद टूट जाएगी बेचारे की।—अच्छा-खासा सो रहा होगा। फिर बोली—बतरा का पेशा था एक खूबसूरत बंगला रखना, एक कार रखना, फोन रखना और क्लबों में जाना। क्लबों में वह रातें गुज़ारता था। बड़े-बड़े अफसरों से जान-पहचान करके, उन्हें खिलापिलाकर वह अपनी नेकी को कुएं में डाल देता था। पोकर खेलने का बहुत शौकीन था बतरा। एकाध बार जब उसने मुझसे पूछा—पोकर जानती हो ? तो मैंने इनकार कर दिया था। उसने कभी बताया भी नहीं कि कैसे खेला जाता है। फोन रिसीव करते-करते बतरा के पेशे का राज़ खुल चुका था। जिन नेकियों को वह कुएं में फेंक चुक होता था, उसे सब याद रहती थीं और वक्त पड़ने पर वह उनमें से ए एक को निकाला करता था। जो फोन मैं रिसीव करती थी, उन् काम वे नेकियां आती थीं।

बतरा अपने इन रसूखों को बड़े-बड़े मसले हल करने के काम था। उसका यही पेशा था—सरकारी अफसरों से दोस्तियां ग व्यापारियों तथा अन्य ज़रूरतमंदों का काम करवाना। च

पचास हज़ार के नीचे का काम करना वह अपनी तौहीन समझता था। इसीलिए बड़े-बड़े व्यापारियों या उनके प्रतिनिधियों के फोन बराबर आते रहते थे। बतरा वक्त तय करके उनके लिए दौड़-भाग करता था और सौ में नब्बे काम बन ही जाते थे। सेक्रेटरियों की बीवियों और प्रेमिकाओं से भी उसके अच्छे सम्बन्ध थे और उसे लोगों की कमज़ोरियों का भी अहसास था। क्लबों में जाकर अच्छे से अच्छे सम्बन्ध बनाना और तीन-चार हज़ार रुपये महीने खर्च करना ही उसकी लागत थी। मेरे यहां काम करते हुए उसने चालीस-पचास व्यापारियों के काम निकाले थे—किसीको ठेके मिलने थे, किसीको डिसपोज़ल का सामान सस्ते में उठाना था, किसीको लाइसेंस की ज़रूरत थी और किसीको इम्पोर्ट की सुविधाओं आदि की।

अपना मुल्क ऐसा है जिसमें हर काम मुश्किल से होता है। अपने यहां अगर कोई काम आसानी से होता है तो वह है बच्चों की पैदाइश। इसके अलावा हर काम में रुकावटें हैं, हर कदम पर मुश्किलें हैं। और इन मुश्किलों को वह हल कर सकता है जो सबकी नस जानता हो। नस पहचानने में बतरा का जवाब नहीं था। उसका आकर्षक व्यक्तित्व और रहन-सहन की चमक-दमक के साथ खुली हुई जेबें उसकी बहुत सहायक थीं।

ज़रूरतमंद व्यापारियों से उसका कमीशन तय हो जाता था। यही था उसकी आमदनी का ज़रिया। यों बतरा हरफनमौला था, दुनिया की सारी बातों का नपा-तुला ज्ञान उसे था। राजनीति और दर्शन से लेकर रुई के बाज़ार-भाव तक की खबर उसे रहती थी। अख़बार को वह दीमक की तरह चाटता था। बतरा की आमदनी किसी भी महीने में आठ-दस हज़ार से कम नहीं रही थी और वह बड़े-बड़े लोगों के बीच प्रिंस की तरह घूमता था।

बहुत अजीब लगता था मुझे बतरा।

एक रात वह जल्दी ही क्लब से वापस आया। उसके आने के आधे घंटे बाद ही एक टैक्सी भी आई। टैक्सी का सामान जब उतर रहा था, तभी मैंने खिड़की से देखा, एक खूबसूरत औरत उसमें से उतरी…बतरा

रूप हो सकते हैं, सब उसमें छिपे थे। उसकी कोमलता, कठो-
पता, नीरसता और मस्ती—सभी कुछ उसमें था।
सामने वह खुलती चली गई थी।...
फसोस इतना ही था कि सब-कुछ बता चुकने के बाद उसने भारी
से रुखी आवाज़ में कहा था—अभी भी कुछ ऐसा बाकी है जो
नहीं बता सकती, शायद किसीको नहीं बता सकती...
हर जिन्दगी में ऐसा कुछ जरूर रह जाता है जो कहीं भी, किसी
ने नहीं खुलता, आदमी के साथ दफन हो जाता है।

सबके बारे में बात करते हुए भी इरा उस विमल को नहीं भूल
ई थी, सोलंकी के बारे में पूछते ही वह हंसी थी। हंस चुकने के बाद
सने बताया था—सोलंकी से मेरी मुलाकात वहीं बतरा के साथ एक
बार हुई थी, वोल्गा होटल में!...

बतरा के बारे में भी इरा बहुत कुछ बताना चाहती थी। उस क्षण
उसने सोलंकी के बारे में इतना ही और कहा था—उसके बारे में बात
मत करो, नहीं तो नींद टूट जाएगी बेचारे की।—अच्छा-खासा सो
रहा होगा। फिर बोली—बतरा का पेशा था एक खूबसूरत बंगला
रखना, एक कार रखना, फोन रखना और क्लबों में जाना। क्लबों में
वह रातें गुज़ारता था। बड़े-बड़े अफसरों से जान-पहचान करके, उन्हें
खिलापिलाकर वह अपनी नेकी को कुएं में डाल देता था। पोकर खेलने
का बहुत शौकीन था बतरा। एकाध बार जब उसने मुझसे पूछा—
पोकर जानती हो? तो मैंने इनकार कर दिया था। उसने कभी बताया
भी नहीं कि कैसे खेला जाता है। फोन रिसीव करते-करते बतरा के
पेशे का राज़ खुल चुका था। जिन नेकियों को वह कुएं में फेंक चुक
होता था, उसे सब याद रहती थीं और वक्त पड़ने पर वह उनमें से ए
एक को निकाला करता था। जो फोन मैं रिसीव करती थी, उन्ह
काम वे नेकियां आती थीं।

बतरा अपने इन रसूखों को बड़े-बड़े मसले हल करने के काम
था। उसका यही पेशा था—सरकारी अफसरों से दोस्तियां ग
व्यापारियों तथा अन्य जरूरतमंदों का काम करवाना। ब

पचास हजार के नीचे का काम करना वह अपनी तौहीन समझता था। इसीलिए बड़े-बड़े व्यापारियों या उनके प्रतिनिधियों के फोन बराबर आते रहते थे। बतरा वक्त तय करके उनके लिए दौड़-भाग करता था और सौ में नब्बे काम बन ही जाते थे। सेक्रेटरियों की बीवियों और प्रेमिकाओं से भी उसके अच्छे सम्बन्ध थे और उसे लोगों की कमज़ोरियों का भी अहसास था। क्लबों में जाकर अच्छे से अच्छे सम्बन्ध बनाना और तीन-चार हजार रुपये महीने खर्च करना ही उसकी लागत थी। मेरे वहां काम करते हुए उसने चालीस-पचास व्यापारियों के काम निकाले थे—किसीको ठेके मिलने थे, किसीको डिसपोजल का सामान सस्ते में उठाना था, किसीको लाइसेंस की जरूरत थी और किसीको इम्पोर्ट की सुविधाओं आदि की।

अपना मुल्क ऐसा है जिसमें हर काम मुश्किल से होता है। अपने यहां अगर कोई काम आसानी से होता है तो वह है बच्चों की पैदाइश। इसके अलावा हर काम में रुकावटें हैं, हर कदम पर मुश्किलें हैं। और इन मुश्किलों को वह हल कर सकता है जो सबकी नस जानता हो। नस पहचानने में बतरा का जवाब नहीं था। उसका आकर्षक व्यक्तित्व और रहन-सहन की चमक-दमक के साथ खुली हुई जेबें उसकी बहुत सहायक थीं।

जरूरतमंद व्यापारियों से उसका कमीशन तय हो जाता था। यही था उसकी आमदनी का जरिया। यों बतरा हरफनमौला था, दुनिया की सारी बातों का नपा-तुला ज्ञान उसे था। राजनीति और दर्शन से लेकर रुई के बाजार-भाव तक की खबर उसे रहती थी। अखबार को वह दीमक की तरह चाटता था। बतरा की आमदनी किसी भी महीने में आठ-दस हजार से कम नहीं रही थी और वह बड़े-बड़े लोगों के बीच प्रिंस की तरह घूमता था।

बहुत अजीब लगता था मुझे बतरा।

एक रात वह जल्दी ही क्लब से वापस आया। उसके आने के आधे घंटे बाद ही एक टैक्सी भी आई। टैक्सी का सामान जब उतर रहा था, तभी मैंने खिड़की से देखा, एक खूबसूरत औरत उसमें से उतरी…

ने उसे लपककर रिसीव किया और अपने कमरे में लेकर चला गया।

नौकर ने उसका सामान भीतर वाले कमरे में पहुंचा दिया था। रात वड़ी देर तक वतरा के कमरे से हंसने-हंसाने की आवाज़ आती रही। आधी रात के वाद जव मेरी आंख खुली तो मैंने देखा—लॉन में दोनों जने वैठे हुए थे। वतरा पीछे हाथों की टेक लगाए अवलेटा-सा था और वह खूवसूरत औरत उसके कन्धे से सटी हुई वैठी थी।

चांदनी रात में दोनों वड़े खुश नज़र आ रहे थे। मैंने दूर से ही सही, पर गौर से उस औरत को पहचानने की कोशिश की, क्योंकि वतरा के सारे एलवम मेरे देखे हुए थे···पर मैं किसी तस्वीर से उसका मेल न विठा पाई। पता नहीं वे लोग उठकर कव चले गए।

सुवह एक नयी वात हुई। चाय पर वुलाने के लिए नौकर आया। मैं तैयार भी नहीं थी, क्योंकि इतने दिनों में कभी भी वतरा ने मुझे कभी साथ चाय पीने के लिए नहीं वुलाया था। मैं चाहती भी नहीं थी। पर घर में एक औरत के आ जाने के वाद जाने में मुझे संकोच भी नहीं हुआ।

पहुंचते ही वतरा ने परिचय कराया—ये हैं मेरी वाइफ, शीला, और शीला, यह हैं मिस इरा, मेरी असिस्टेंट। शीला सचमुच वड़ी हंसमुख और अच्छी लगी मुझे। शीला की उपस्थिति से मेरी हिचक भी थोड़ी खुल गई थी। मैंने कहा, आपने वताया ही नहीं, मैं स्टेशन जाकर रिसीव करती···

वतरा हंस पड़ा, वोला, इन्होंने मुझे खवर दी ही नहीं, मैं कैसे तुम्हें वताता! और वे दोनों प्यार से देखकर मुस्कराने लगे।

मुझे दो तरह का संतोष मिल गया था—एक तो यह कि अव घर में मुझे अकेलापन नहीं लगता था और दहशत भी नहीं रह गई थी, दूसरे यह कि वतरा की कैद परछाईं उस सूखे पेड़ की वांहों से मुक्त हो गई थी···अव उसके कमरे से अंग्रेज़ी रिकार्डों की आवाज़ें आती थीं।

शीला ने आते ही घर को सलीके से सजाया—सारी चीज़ों में अपनी रुचि की छाप लगा दी। वतरा का कमरा तो उसने एकदम वदल

दिया। सिर्फ सोने के फ्रेम में जड़ी हुई उस अनजान औरत की तस्वीर वहीं लगी रही।

बतरा के बारे में जो रहस्यमयता थी, वह कुछ थोड़ी-सी और बढ़ गई थी। कैसा आदमी है यह, जिसने कभी अपनी बीवी के बारे में बताया तक नहीं, और जिसे अब वह इतने प्यार से रख रहा था, उसकी याद तक उसे कभी नहीं आई। शीला की एक तस्वीर ही उस ज़ालिम ने कहीं रखी होती। घर में कोई तो निशानी होती उसकी।

शीला के आने के बाद बतरा की दिनचर्या ही बदल गई थी··· शराब वह अब और ज्यादा पीता था, पर अपने को उतना ही काबू में रखता था। शाम होते ही वह शीला के साथ सैर-सपाटे के लिए चला जाता था। क्लब जाना एकदम बन्द हो गया था।

मैं बहुत सोचती—कौन-सी ऐसी मजबूरी थी जो इन दोनों को अलग किए हुए थी? हो सकता है, किसी आपसी लड़ाई के कारण दोनों अलग हो गए हों···और अब फिर नया मिलन हुआ हो। शायद शीला ने अपनी गलती महसूस की हो और बतरा ने उसे माफ कर दिया हो। पर दोनों को मैंने कभी पुरानी बातें करते नहीं सुना। सचमुच बतरा का मैं मन-ही-मन बड़ा आदर करने लगी थी। कैसा अजीब है यह आदमी। कितनी घुटन और पीड़ा सहता रहा, पर अपनी बीवी के बारे में एक शब्द भी कभी नहीं बोला—कभी यह भी नहीं कहा कि मुझे उसका ख्याल आता है···न कभी खत लिखा और न कभी शीला का ही खत आया।

मेरा मन होता था, बतरा के लिए जान दे दूं, बतरा की तरह अनासक्त तो देवता ही रह सकते हैं।

मुझे बड़ी खुशी होती जब बतरा शीला से कहता—अगले इतवार को शिमला चलेंगे···वहां से कुछ चीजें भी खरीदनी हैं। अब तुम साथ हो तो खरीद लोगी, नहीं तो मैं कभी चीज चुन ही नहीं पाता।···

शीला जब भी कनाट प्लेस से लौटती तो तमाम चीजें लाती—कुछ घर की सजावट के लिए, कुछ बतरा के लिए और कुछ अपने लिए।

एक शाम शीला मेरे कमरे में चली आई। उसके हाथ में एक [illegible]

...ते हुए बोली—इराजी, हम यह आपके लिए लाए हैं।
मैं देखती रह गई। संकोच और आभार से मैं कुछ बोल ही नहीं
। शीला ने मेरा संकोच भांपते हुए कहा—लीजिए न···और इसे
...कर आर्ज डिनर के लिए हमारे साथ चलिए। मैं इतनी घबरा-सी
कि बस यही कह पाई—मैं कैसे जाऊंगी ?

क्यों, क्या बात है ? आखिर मैं भी तो चल रही हूं···चलिए, जल्दी
...ार हो जाइए, नहीं तो रिजर्वेशन कैंसिल हो जाएगा। मैं मना नहीं
...र पाई, लेकिन कुछ कहने के लिए बोली—साड़ियां मेरे पास और भी
···इसे क्यों खराब करूं ?

अरे यही पहनने-ओढ़ने के दिन हैं, बुढ़ापे में कौन करता है यह
सब···और कौन देखता है किसीको। कहते-कहते वह हंस दी और
बोली—मेरे लिए भी ये एक नई साड़ी लाए हैं, मैं वही पहन रही हूं,
बड़ा शौक है इन्हें। हर चीज़ सुन्दर देखना चाहते हैं ! कहते हुए वह
चली गई।

बड़ी देर तक मैं असमंजस में खड़ी रही। क्या करूं, क्या न करूं ?
इनकार करने का मतलब होगा शीला को नाराज़ करना और साथ जाते
मैं घबरा रही थी। घबराहट आकस्मिक निमंत्रण की थी···आखिर मैंने
साड़ी भी पहनी और मेक-अप भी किया···और जब शीशे के सामने
खड़ी हुई तो एकाएक विमल का ध्यान आया—काश वह होता और मैं
उसके साथ जाती। मेरे रूप को देखकर वह फूला न समाता। बांहों
में लेकर बहुत प्यार करता···और आज की रात आंखों में कट जाती।
वह किस-किस सिम्त से मुझे देखता।···कभी मेरी धड़कती छाती प...
सर रखकर चुपचाप लेटा रहता,···कभी मुझे उठाकर ऊपर छत प...
सितारों की छांह में ले जाता। कभी हम दोनों लॉन पर घूमते···वह
प्यार करता वह···अपनी रगों में दौड़ते उसके स्पर्शों की झनकार-...
आई थी। अंग-अंग से जैसे उसकी सांस बह रही थी—गूंजती-पुकार...
हुई···मैं सार्थक हो जाती उसकी निकटता में, और थकती सांसों के ...
वह अदम्य विश्वास से एक ही बात कहता—इरा, नाटक ज़रूर हो...

पसीने के कांटे मेरे रोम-रोम में समा जाते और सेमल के मांसल लाल-लाल फूल विकसित हो जाते। मेरी आखें भर आई थीं, पता नहीं विमल कहां चला गया। आशंकाओं का मारा आदमी कहीं चैन नहीं पाता। कुछ भी नहीं कर पाता। काश, मेरे पंख होते तो उसी क्षण उड़कर मैं उसे खोज लाती। और तब···मुझे अपने रूप से वितृष्णा हुई थी। किसके लिए है यह पगली। और मैं बुरी तरह रो पड़ी थी···

शीला की आवाज सुनकर मैं बाथरूम में भाग गई···लौटकर फिर मेक-अप किया और कार में साथ बैठकर चल दी। हम तीनों ही आगे बैठे हुए थे। बतरा ड्राइव कर रहा था।

बोल्गा की वह रात बड़ी मादक थी। साढ़े आठ बजे से साढ़े दस तक ड्रिंक्स चलते रहे, फिर डिनर चलता रहा·· बैण्ड की धुन हाल में गूंज रही थी और सिगरेटों का धुआं ऊपर परत की तरह जमा होता रहा था। कॉफी के दौर के साथ ही डांस में मस्ती आ गई थी। वैसे कई जोड़े बीच-बीच में भी नाचते रहे थे। बतरा और शीला बड़ी देर तक नाचते रहे। थककर कुछ देर वे आराम करते और फिर फ्लोर पर उतर जाते, जैसे दोनों नशे में हों।

रात का डेढ़ बजते ही बोल्गा की बत्तियां जल गईं और रंगीन रात खत्म हुई। थके और बेसुध जोड़े कारों में बैठ-बैठकर हंसों की तरह नजर से ओझल हो गए। हम तीनों कार में बैठे ही थे कि एक लम्बा-चौड़ा आदमी लपकता हुआ आया और उसने बतरा को 'विश' किया। बैठे-बैठे ही बतरा ने हाथ मिलाया और गाड़ी स्टार्ट कर दी।

आजकल क्लब में आना बन्द है? उस आदमी ने पूछा था। बतरा ने टालने के अंदाज में कहा था—जल्दी ही आना शुरू करूंगा···अच्छा सोलंकी, सो लांग। और गाड़ी चल दी थी।

तिलक! यहीं पर सोलंकी को पहली बार देखा था मैंने। बड़ा हूस लगा था। दो औरतों को देखकर ही वह बतरा को 'विश' करने आया था। उसके आने में कुछ ऐसा ही लग रहा था · बोल्गा की भीड़ और चहल-पहल में मेरी नजर उसपर नहीं पड़ी थी। उसने भी हमें नहीं देखा होगा, नहीं तो वहीं आकर जम जाता।·

हम दोनों ने जूड़ों में फूल लगाए हुए थे। रास्ते में शीला के जूड़े
फूल सूंघते हुए वतरा ने गहरी सांस ली थी···

उस रात मुझे बहुत तकलीफ हुई। मेरा मन भटकता रहा। मैंने
अकेलापन महसूस किया। उस रात मुझे लगा कि क्या मेरी
ज़िन्दगी ऐसी ही बीत जाएगी···अब कौन है जो सहारा देगा मुझे ? उस
र में सहारा अपने आदमी का होता है, सपनों के रंग उसीके साये
निखरते हैं···

रात को रोज़ यही अनुभूति मुझे सताती थी—कोई ऐसा हो जिसे
अपना कह सकूं, एक नन्हा-सा घर बनाकर रहूं, किसीके आने का
इंतज़ार करूं···मन में लगता था शायद विमल कभी हारकर दिल्ली
आया होगा तो मुझे देखने भी उस घर में ज़रूर आया होगा। इधर का
चक्कर भी उसने ज़रूर काटा होगा···न जाने क्यों, लगता था कि विमल
ज़रूर आया होगा···क्या वह सचमुच बिना मिले जा सकता है ?···
अगर नहीं जा सकता था तो मिला क्यों नहीं, पता नहीं क्या-क्या सोचा
होगा उसने।

शीला के साथ घर में बहार आई थी। और एक रोज मैं आश्चर्य
और आशंकाओं से विमूढ़ हो गई जब पता चला कि शीला जा रही
है।

वह कहां जा रही है ? क्यों जा रही है ? कब वापस आएगी ? कुछ
भी पता नहीं चल सका। नौकरों को भी कुछ नहीं मालूम था। आखिर
जब टैक्सी आ गई तो मैंने बेहद साहस बटोरकर पूछ ही लिया—अब
आप कब आएंगी ?

शीला मेरी ओर देखकर मुस्करा दी। उसकी मुस्कराहट में अजीब
सी कुटिलता थी···छः महीने में ही क्या इसका भी जी भर गया ? अ
अपने पति को छोड़कर यह कहां जा रही है ? मेरी आंखों में उभरे प्र
का सीधा-सा उत्तर शीला ने दे दिया—फिर आऊंगी। मुलाकात हो
ज़रा खयाल रखना वतरा का।

और टैक्सी चली गई। जितना सामान वह लाई थी, उससे बहुत ज्यादा ले गई थी। कैसी थी वह औरत ? क्या पति-पत्नी का रिश्ता इतना अजीब भी होता है ? पर बतरा जैसे आदमी के बारे में कुछ भी सोचा जा सकता था। और फिर घर पर कार होते हुए भी शीला टैक्सी से क्यों गई ? बतरा उसे स्टेशन तक छोड़ने क्यों नहीं गया ?···वह तो नीचे भी नहीं उतरा था। जाती हुई टैक्सी में से शीला की 'बाई-बाई' का जवाब उसने बड़ी ऊपर खिड़की से दिया था। मैं बतरा को जितना ही समझना चाह रही थी, उतनी ही उलझती जाती थी। मेरा दम घुटने लगा था। अजीब तिलस्मी आदमी था यह भी। वह कार से उसे छोड़ने तक नहीं गया। और मुझे लगा कि दोनों के जीवन में कोई भयंकर दरार पड़ी है, जो मिटाए नहीं मिटती। गर्दिश के मारे ये दोनों जने घूम रहे हैं। शीला ने कभी यह भी नहीं बताया कि वह कहीं कोई नौकरी वगैरह करती है। और फिर बतरा जैसे आदमी की बीवी नौकरी भला क्यों करेगी ? क्या कमी थी घर में ?

क्या इतनी जल्दी दोनों का मन भर जाता है ? एक दूसरे से ऊबने लगते हैं ? या एकाएक कोई भयंकर लड़ाई हो गई, जिससे मिले हुए दिल फिर फट गए ? यह औरत भी कैसी थी जो इस तरह चली गई ! मैं होती तो सब साफ कर लेती, जिन्दगी को नये सिरे से गढ़ती ! ·· यह मैंने उस वक्त सोचा था, तिलक ! आज यह बात भी आदर्श से भरी लगती है। जिन्दगी को गढ़ना सबके लिए मुमकिन नहीं होता।

···बतरा की सहन-शक्ति और अपने को छिपाकर रखने की ताकत को मैं मान गई थी। शायद आदमियों के रहस्यों को खोल सकने की जितनी उत्सुकता और उत्कट अभिलाषा औरतों में होती है, उतनी किसी में भी नहीं। बतरा को मैं उधारकर खोल देना चाहती थी···उसके रहस्यों को जान लेना चाहती थी। मेरे मन में करुणा उपजती थी उसके लिए। यह कैसा आदमी है जिसे शीला छोड़कर चली गई ! और वह शंकर की तरह विष पीकर खामोश था।

कभी-कभी अकेले में बतरा की दशा सोच-सोचकर मैं रो

अपना और उसका अकेलापन बहुत अलग-अलग भी नहीं लगता था। यह कैसी टूटी हुई ज़िन्दगी थी? शीला सिर्फ छः महीने रुकी थी, पर उसके जाने के महीने-भर बाद ही घर ज्यों का त्यों हो गया था। वही उखड़ी-उखड़ी ज़िन्दगी चालू हो गई थी, पिछवाड़े खड़े सूखे पेड़ की राक्षसी बांहों में बतरा की अकुलाती परछाईं फिर कैद हो गई थी और रात में क्लब से लौटने के बाद वही रिकार्ड सुनाई पड़ने लगा था—

गैर की बस्ती में कब तक दर-ब-दर मारा फिरूं!

ऐ गमे-दिल क्या करूं ऐ वहशते-दिल क्या करूं!

जब रिकार्ड की गूंज डूब जाती थी और खिड़कियों के भीतर उसकी छाया बहुत देर तक अकुलाती हुई घूम चुकती थी तो उस खामोश उजड़े हुए आशियाने से एक ही सदा आती थी—ओह—ओह गॉड! ओह गॉड!

चार-पांच दिन बाद चाय के वक्त मैंने जान-बूझकर बतरा से मिलने की कोशिश की। यही वक्त था जब उससे मिला जा सकता था। मैं भी वहीं चाय पीने गई। बहुत संभलकर मैंने बात शुरू की—शीलाजी कब तक वापस आएंगी?

वहशी आंखों से मुझे घूरता हुआ वह बोला—शायद कभी नहीं। क्यों?

कोई बात नहीं, ऐसे ही पूछा था। और मैं क्या कहती। मैंने उसके चेहरे पर आते-जाते भावों को देखने की कोशिश की। सुबह वह वैसे भी वहशी लगता था, उसकी आंखों या चेहरे पर कोई भी दुःख का भाव नहीं था बल्कि एक कमज़ोर हिंस्र पशु झांक रहा था। बतरा सब बातों को कैसे पी लेता है और कैसे इतना बरदाश्त करता है, यही मैं नहीं समझ पाती थी। कुछ दिन पहले जो भंवरे की तरह उड़ रहा था और हर क्षण गूंज मचा रहा था वही टिड्डे की तरह खामोश और स्थिर हो गया था। उसकी आंखें सोडावाटर की गोलियों की तरह निकली पड़ रही थीं। मैं चाय पीती रही तो सिगार जलाकर वह बोला—शीला बहुत बुरी है, बस! इतना कहकर वह फिर चुप हो गया। मेरे मानस में मन्थन होने लगा। बतरा कठिन पहेली की तरह उलझा हुआ था।

दोपहर में मैंने पहली बार बतरा के कमरे में तलाशी ली। तीन एलबम थे। सभीमें कुछ जगहें खाली थीं जिनकी तस्वीरें निकाल ली गई थीं। मुझे लगा कि नाराजगी के कारण बतरा ने शीला की सब तस्वीरें निकालकर फाड़ दी होंगी या कभी शीला खुद निकालकर ले गई होगी। दोनों में बड़े गहरे मनमुटाव का अहसास मुझे होता था···

शीला बहुत बुरी है, यह कहने का उसका क्या मतलब था? शायद किसी और से सम्बन्ध बना रखे होंगे। पर शीला जैसी शालीन और समझदार दिखनेवाली औरत यह करेगी, मैं मान नहीं पाती थी। जितने दिन वह रही, बतरा के लिए जान देती रही। अपना दिल कहीं रखकर इस तरह की दोहरी जिन्दगी क्या जी जा सकती है? मैं मान ही नहीं पायी थी। यह कैसे हो सकता है? पर तिलक! यह भी होता है··· और शायद ज्यादातर होता है। मन कहीं और अटका रहता है और फर्ज के मातहत एक अच्छी-खासी जिन्दगी जी जा सकती है। सौ में पचहत्तर औरतें ऐसी ही जिन्दगी जीने की आदी हो चुकी हैं। अगर उनका मन कहीं और नहीं है, तो वहां भी नहीं है जहां वे हैं। उनका मन मर चुका है। पत्नी के रूप में वे ही ज्यादा सफल साबित होती हैं जिन्होंने अपने मन को मार लिया है, यानी जो जिन्दगी भोगने आती हैं। इस भोग में विलास नहीं, पीड़ा से भरी एक मजबूरी है। हर औरत मेरी तरह जिन्दगी भोग रही है। शीला, जो बतरा को छोड़कर चली गई थी, वह भी इसीका शिकार थी। अगर न होती, तो इस तरह न भटकती!

शीला के बारे में पूरी बात मुझे बाद में एक दिन बड़े नाटकीय ढंग से मालूम हुई। मेरी आंखों के सामने अंधेरा छा गया था और मैं विश्वास नहीं कर पाई थी कि शीला का यह रूप भी हो सकता है। बतरा ने ही मेरा भ्रम तोड़ा था···

उन दिनों, शाम को जब बतरा क्लब चला जाता था, मैं अपने को सजाती थी। खूब शृंगार करती थी। एक-एक अंग को सुघर बनाती थी और साड़ी बदलकर लॉन पर अकेली घूमती रहती थी। मैं ऐसे तैयार होती थी जैसे किसीके साथ मुझे बाहर जाना हो। शीला के आने के बाद से मेरा खाना भी बतरा के किचन में बनने लगा

था। तनख्वाह बिलकुल बच जाती थी। मैं यह खिलवाड़ किया करती थी और खिलवाड़ कर चुकने के बाद खूब रोती थी। बहुत बार ऐसा होता कि दुःख का अहसास भी नहीं होता और आंसू निकल आते हैं। मेरे साथ ऐसा बहुत बार हुआ है। जिसकी जिन्दगी कारवां की तरह मंजिल के आसरे में भटकती रही है, वही इस बात की गहराई को समझेगा, तिलक! कोई बात न हो और आंसू अपने-आप आ जाएं। बहुत बार मैं किसी भी बात के बगैर रोई हूं। मन में इतने घाव हैं कि पता नहीं चलता कि कब कौन रिसने लगा, किसमें कचोट हुई। बस बैठे-बैठे आंखें भर आती हैं और खूब रो चुकने के बाद मन हलका हो जाता है। शृंगार करके ही मैं क्यों रोती थी, इसका पता मुझे नहीं। मुझे अपने रूप से ईर्ष्या होती थी और मैं कई-कई मिनट तक अपने को शीशे में देखती रह जाती थी।

एक रात जब मैं सो रही थी, पता नहीं क्या हुआ, सोते-सोते मेरी आंखें भर आईं, और मैं जाग गई। जागने पर बहुत सोचा, बार-बार दिमाग पर ज़ोर डाला कि सपना ही याद आ जाए, पर मैंने कोई सपना देखा ही नहीं था···एकाएक मेरा ध्यान बगल से आती रोने की आवाज़ की ओर गया। कोई बगलवाले कमरे में रो रहा था। मैं अंधेरे में ही निकलकर गैलरी में पहुंची, अभी उधर देख ही रही थी कि बतरा के कमरे का दरवाजा खुला और वह लपककर मेरे पास आया और बच्चों की तरह मुझे बांहों में थामकर अपने कमरे में ले गया और बत्ती जलाकर बाथरूम में मुंह धोने चला गया।

मैं सकते में बैठी रह गई। लौटकर आते ही उसने आधी रात को परेशान करने के लिए माफी मांगी और बड़ी गम्भीरता से बोला, इरा, मैं शीला को एकदम भूल जाना चाहता हूं···कोई ऐसा है जो मेरी मदद कर सके?

आखिर बात क्या है? मैंने पूछा था।

और बतरा का इतने दिन का रुका हुआ बांध टूट गया—बात

बहुत गहरी है···कैसे कहूं तुमसे ! फिर प्रकृतिस्थ होते हुए उसने बताया—शीला मेरी बीवी नहीं है ।

सुनकर मैं आसमान से गिरी—तो और कौन है ?

शीला का हाल सुनोगी तो जिन्दगी से मन हट जाएगा तुम्हारा।··· क्या नहीं है शीला के पास · वह खूबसूरत है, पढ़ी-लिखी और सलीकेदार है । सोसाइटी में उसके साथ कोई भी शान से जा सकता है, उसे लेकर खुश हो सकता है, पर सारी जिन्दगी उसके साथ नहीं गुजारी जा सकती ।

मैं समझी नहीं ?

बतरा आगे बताने लगा—रावलपिण्डी में शीला हमारे घर के पास रहती थी। हम दोनों एक-दूसरे को चाहते भी थे। पर दंगों में हम जुदा हो गए। जब सन् पचास में मैं दिल्ली आया तो एक दिन शीला मुझे एक जान-पहचानवाले के यहां दिखाई दी। उसने मेरा परिचय कराया, ये मेरी बीवी हैं बीना···और बीना, ये हैं मेरे दोस्त हेमेन्द्र बतरा !

हम दोनों ने एक-दूसरे को देखकर भी नहीं पहचाना । बड़े औपचारिक ढंग से हमने बातें कीं और शाम होते ही मैं वापस चला आया। मैं शीला का बीना नाम सुनकर अचकचाया भी था, पर अब तक तो उसके कई नाम जान चुका हूं···उस मुलाकात के बाद मैं ऐसा मौका खोजने लगा, जब उससे मैं अकेले में मिल पाऊं···

एक शाम इण्डिया गेट के पास नहर के किनारे वह मुझे घूमती हुई दिखाई दी। मैं कार रोककर उसके पास पहुंचा। वह अकेली थी। मैंने आवाज़ दी, शीला ! और दो महीने पहले की बीना अपना नाम सुनकर मुड़ पड़ी। बहुत-सी बातें मैं कहना चाहता था उससे। पर मैंने इतना ही कहा, तुमने घर बसा लिया, यह अच्छा किया।

शीला हंस पड़ी। शोखी से बोली, मैं अब भी तुमसे शादी कर सकती हूं, करोगे ? उसके इस सीधे सवाल के लिए मैं तैयार नहीं था। कुछ भी नहीं कह पाया तो वह आगे बोली, हेमेन्द्र···चाहो तो मैं तुम्हारे घर तुम्हारी मरजी से बीवी बनकर रह सकती हूं ।

मेरे मन में चोट लगी। वह शीला, जिसे मैंने प्यार किया था, जिस

ह पेश आ रही थी। न हया, न शरम, न लिहाज, मैं बिगड़ पड़ा—
ों बेहूदी बातें कर रही हो ?

शीला ने शांति से जवाब दिया, इसमें बेहूदगी क्या है ? असलियत
अगर बेहूदी है तो हो, लेकिन तुम उसे कैसे बदल सकते हो ! कहते-कहते
शीला उदास हो आई थी और चुप हो गई थी। आगे वह कुछ भी नहीं
कह सकी थी…

बस यही जिन्दगी है शीला की ! क्या तुम सोच सकती हो इरा,
पैसे की मार ने, और घर की जिम्मेदारियों ने शीला को ऐसा बना दिया
था ? उसका बाप दंगों में मारा गया था और किसी तरह बच-बचाकर
वह अपनी बहनों और मां को लेकर भागी थी।…फिर क्या-क्या नहीं
भोगा उसने ज़िंदा रहने के लिए…क्या-क्या नहीं किया ! आखिर वह
जिस चक्कर में पड़ गई थी, उसमें अपनी मां को उसने यही बता रखा
था कि उसकी नौकरी दौरे की थी। उसे वक्त-बेवक्त कभी भी जाना पड़
सकता है और तीन-तीन, चार-चार महीने बाहर रहना पड़ सकता है
तुम्हें याद होगा जब हम शिमला गए थे। तब उसने अपनी मां को ब
से एक हजार रुपये का ड्राफ्ट भिजवाया था। वह इसी तरह आदमि
की बीवी बनकर रहती है, जब तक वे चाहते हैं तब तक, जब वे
चाहते हैं तब वह अपने घर लौट जाती है। अगर बीच में ज़रूरत
जाए और शीला को घर से हटाना हो तो वह कहीं और चली जा
कुछ दिन बाद फिर आ जाती है। वह हर घर में बीवी का नकाब
कर रहती है और घर का इस तरह ध्यान रखती है जितना कि
भी नहीं रख सकतीं। अपनी शारीरिक और आर्थिक ज़रूरतों
करने का यही साधन है उसके पास। बड़े-बड़े लोगों से मेल-मु
उसकी…और अब शायद दस-बीस हज़ार रुपया भी उसके
इस बार कह रही थी—मन बहुत कोसता है, पर क्या करूं ?

वह एक शरीफ औरत है…वक्त और पैसे की मार ने
बनाया है। वक्त की मार खाते-खाते अब वह…मैं क्या
लिए ?

आप उससे शादी क्यों नहीं कर लेते ? मैंने कहा था

देर चुप रहा, फिर बोला, शादी कर लू तो जहा उठता-बैठता हूं वहां कितनी-सी इज्जत रह जाएगी ···और शीला ने अगर फिर भी धोखा दिया तो कहीं का नहीं रह जाऊंगा।···मुझे बड़ी याद आती है उसकी, अब पता नहीं वह किस नाम से कहा दिन गुजार रही होगी!···उसकी इज्जत करने के लिए ही मैंने तुमसे अपनी बीवी के रूप में उसका परिचय कराया था।···मैं उसे बहुत चाहता हू, इरा! मेरा मन भीतर-भीतर रोता है, मुझे कहीं भी चैन नहीं मिलता और इस अकेलेपन में जब मैं घबराता हूं तो रिकार्ड सुनता हूं और गांड को आवाज लगाता हूं। मेरा अकेलापन दोहरा है—एक परत मेरी है और दूसरी परत शीला की। उन दोनों परतों के बीच मेरा दम घुटता है। कहकर वह उठा और परेशानी से घूमने लगा। अगर मैं लॉन मे होती तो उसकी कैद परछाई मुझे दिखाई पड़ती···पर इस क्षण मुझे उसकी कैद आत्मा के दर्शन हो रहे थे।

उकताकर मैं खड़ी हो गई थी। मुझे उस वक्त बतरा की वह दुनिया झूठ और विलासिता की नकाब पहनाकर असलियत साबित करने की दुनिया लगी थी। पर आज जब मैं इन राहों से गुजरकर आई हूं, कुछ भी मान सकने को तैयार हूं।

उसकी दुनिया झूठी और उसकी परेशानियां या दुख खामख्वाह के लगने के बावजूद बतरा की बेहाली मुझे बहुत सता रही थी। उसे उस तरह छटपटाते और घूमते देख मेरा दिल भर आता था और कभी-कभी एक क्षण के लिए मुझे उसमें विमल की परछाई भी दिखाई पड़ती थी। परेशान होने पर वह भी ऐसे ही झुंझला-झुंझलाकर घूमा करता था।

मैं निस्तब्ध खड़ी थी कि सामने शीशे मे नजर पड़ी—पिछली शाम सवांरे हुए रूप की कुछ छवि बाकी थी···काश, विमल होता तो मैं क्या बनती!···इस उजाली रात मे मैं बतरा के दुखों की साक्षी न होकर भरपूर सुखों को भोग रही होती···

कि बतरा मेरे सामने आकर रुक गया—उसकी नजरें मुझे बहुत पहचानी-सी लगीं। बिलकुल विमल जैसी···जब मैं रात को घर वापस पहुंचती थी तो गुमसुम पड़ा विमल धीरे-धीरे मेरे रूप के सहारे जागता

था···उसका मुरझाया मन-कमल खिलता था और वह मुझे बिलकुल इसी तरह देखता था···

और बतरा के हाथ मेरी कमर में आ गए थे···उफ् कितनी एकता थी स्पर्श में! और बतरा ने मुझे नज़दीक लेते हुए बड़ी गहराई से चूम लिया था और बाद तक ओंठों पर ओंठ रखे उनींदी आंखों से मेरी आंखों में देखने की कोशिश करता रहा था। उसकी गरम सांसें और कसते हुए बाहुपाश मुझे बेहाल करते जा रहे थे। उसका चेहरा, उसके स्पर्श, उसकी सांसें और उसकी मादकता-भरी आंखें बिलकुल विमल की तरह थीं···वही उमस और उखड़ती-सी सांसें थीं···वैसा ही समर्पण था।···

लेकिन सुबह मेरा मन ग्लानि से भरा हुआ था। बतरा भी मुझे बताए बगैर सुबह-सुबह ही निकलकर कहीं चला गया। मैं अकेली कमरों में घूमती रही। एक तरफ कुछ सुख की अनुभूति थी और दूसरी तरफ ग्लानि की, पर साथ ही पूरा घर अब मुझे अपना-सा लग रहा था। पर दूसरे ही क्षण खयाल आता कि कहीं आर्थिक दासता के कारण ठगी तो नहीं गई हूं···क्या भरोसा किसीका! विमल से जो विश्वास मिलता था, वह यहां नहीं था, यह मैंने बाद में महसूस किया। यह केवल एक जरूरत थी और ऐसी जरूरत तो बहुत बड़ी न होते हुए भी एक क्षण-विशेष पर विकराल बन जाती है, सारी मान्यताएं धरी रह जाती हैं···

इसके बाद बतरा ने मुझे तनख्वाह देना बन्द कर दिया था। अगर वह देता तो सचमुच मुझे बड़ी चोट लगती, पर खर्च करने के लिए वह मेज़ पर सौ-पचास रुपये छोड़ जाता था·· चाहते-न चाहते हुए भी वह क्रम चलता रहा। और मुझे पहली बार लगा कि आत्मा की स्वीकृति के बगैर भी यह सब-कुछ हो सकता है। केवल भावनाओं के बुलबुले शारीरिक सम्पर्क के लिए काफी होते हैं और एक साथ दोहरी जिन्दगी चल सकती है। किसीको न चाहते हुए भी दुनियावी बातें ठीक-ठीक चलती रह सकती हैं। और शादी करने से कोई बड़ा फर्क नहीं आता, क्योंकि शादी से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। अगर आत्मिक मिलन की ही बात होती तो शादियां करने की उम्र पचास के बाद होती। यह

महज एक शारीरिक आवश्यकता है, जिसे आदर्श का ताज पहनाकर गरिमा प्रदान की गई है।

···हर विवाहित जोडा पच्चीस से पैंतीस तक आदमी और औरत की तरह रहता है, पैंतीस से पैंतालीस तक पति-पत्नी की तरह, पैंतालीस से पचपन तक दोस्तों की तरह, पचपन से पैंसठ तक भाई-बहन की तरह और पैंसठ की उम्र पार करते ही वे मां और पुत्र की तरह हो जाते। आध्यात्मिक मिलन की बात पैंसठ के बाद ही जाती है। इस यथार्थ मे भी एक खूबसूरती है···ऐसा होता है तिलक! जिन्होंने पच्चीस की उम्र से विवाहित जीवन शुरू किया है वे इन्ही सीढियों से नीचे उतरे हैं।

इरा की बात सुनकर मुझे हसी आ गई थी। सोच-सोचकर मैं काफी देर तक हसता रहा। मुझे हसते देखकर इरा भी हंस पड़ी—क्यों, बेहूदी बातें कर रही हूं?

कुछ-न कुछ बेहूदगी तो है ही। मैंने कहा तो वह और हस पडी, बोली, और यह कम बडी बेहूदगी है कि मैं सोलंकी को खुद पहलगाम से बुलाकर लाई हू!

तभी हमारी नजर डाक बंगले के बरामदे की ओर गई···एक बडा-सा काला धब्बा वहा चलता हुआ नजर आ रहा था। मैंने इरा को दिखाया तो वह बोली, सोलंकी ही होगा। आख खुलने पर जब मैं नही दिखाई पडी होऊंगी, तो वह तुम्हे देखने निकला होगा···

और अब वह क्या सोच रहा होगा? मैंने पूछा तो इरा बोली, वह हमें यहां खोजने नही आएगा। सोलंकी बहुत डरपोक भी है!

तभी अस्त-व्यस्त लेटी हुई इरा को कंधे से उठाते हुए मैं भी खडा हो गया। रात गुजर चुकी थी।

सवेरे का पंछी पंखो मे रोशनी लिए आने ही वाला था। हम दोनों के कपडे नम हो गए थे। घास से गंध उठ रही थी। कुहरा जगह-जगह ज्यादा गहरा होकर लटका हुआ था, सरदी बढ़ गई थी

नहीं चाहिए।

क्यों ! नहाओगे नहीं ? इरा ने पूछा तो उसने सीधे-सीधे इनकार कर दिया। पहले दिन-भर चलने के बाद की थकान से नहाना जरूरी हो गया था, पर सोलंकी कुछ इस तरह से कतरा रहा था कि अजीब-सा लग रहा था। रोज़ न नहानेवालों-सी सहजता नहीं थी उसके इन-कार में।

दोपहर में इरा ने मुझसे पूछा—आस-पास घूमने चलते हो, तिलक ?···मैं तैयार था। उसकी निकटता मेरे लिए आत्मिक सुख का कारण थी। मैंने औपचारिक रूप से सोलंकी को भी बुलाया। उसने एक-दम मना कर दिया। हट्टा-कट्टा सोलंकी इस वक्त बहुत निरीह और पिटा हुआ लग रहा था। मैं इरा के साथ बाहर निकल गया। कच्ची धूप चारों ओर टुकड़ों में फैली हुई थी···कहीं किसी चट्टान के कोने पर और कहीं देवदार के पेड़ों के बीच से होती हुई धरती पर। धरती पर कच्ची धूप रुई के फाहों की तरह लग रही थी। हम दोनों बाईं ओर खड़े देवदारों के जंगल में घुस गए। सेही के कांटे जैसी देवदार की पत्तियों का गद्दा धरती पर बिछा हुआ था। सूखकर पत्तियां ज्यादा चिकनी और लाल-लाल हो गई थीं। उनपर पैर फिसलता था। इरा ने मेरा सहारा ले रखा था। चलते-चलते मैंने इरा से कहा, बतरा का किस्सा तुमने अधूरा छोड़ दिया।

मैंने देखा तुम्हें नींद आ रही थी, नहीं तो मैं लगातार कई दिन-रात अपनी कहानी सुनाती रहती। अपनी कहानी से ज्यादा दिलचस्प बात और दुनिया में कोई नहीं होती···पर कोई धीरज वाला नहीं मिलता जो दूसरों की कहानियां सुने और अपने तक रखे।

मैं धीरज वाला नहीं हूं ? शैतानी से मैंने कहा।

क्या पता, कल तुम भी मुझे समझने से इनकार कर दो। बुरा सम-झने लगो। वैसे अच्छाई और बुराई से मुझे क्या लेना-देना ! पर अपने को खोलते एक झिझक होती है, बस। तुम्हें सुनाकर मैंने अपने बीते दिनों को जीने की कोशिश की है···और मुझे लग रहा है कि मैंने यह गलत

नहीं किया है। फिर चलते-चलते ही वह बताने लगी—

बतरा मेरा अपना हो गया था। मैं विवाहित जीवन तो व्यतीत कर रही थी, पर उसकी सामाजिक सनद न मैंने ली थी और न बतरा ने ही लेने की सोची थी। एक-दूसरे को समर्पित हो जाने के बाद यह बहुत छोटी-सी चीज लगती थी। दुनिया के जो भी ऐश और आराम हो सकते हैं, वे मुझे बतरा ने दिए। और अपने मन का चोर बताऊं—पहले ज्वार के बाद मैं भी चाहने लगी थी कि बतरा के वैभव को मैं क्यों न भोगूं? उसपर अब मेरा अधिकार था···लेकिन तिलक!···सेमल के लाल मांसल फूलों के खिलने की बात मुझे भूली नहीं थी। बतरा इससे बहुत घबराता था। वह अपने समर्पण का कोई निशान नहीं छोड़ना चाहता था, क्योंकि उसका मन लोगों के बीच नहीं लगता था। वह नितांत एकाकी होकर रहना चाहता था।

वह कहता था—ये दुनियावी रगड़े मुझसे नहीं चल सकते···मैं गृहस्थी नहीं चाहता, मुझे सिर्फ वे चीजें चाहिए जो मेरे जीते-जी मेरे काम आएं, आगे कुछ नहीं चाहिए···

लेकिन मैं जानती थी कि जो मैं चाहती हूं वह पा लूंगी, उसमें बतरा क्या कर लेगा?

और वह दिन भी आया जब मैंने अपने में सेमल के फूल देखे···मेरा रूप और अंगों की रेखाएं और उभर आई थीं। मैं भरा-भरा महसूस करती थी। एक रात मैंने बतरा को बताया तो वह एकदम बोला—तुम्हें टॉनिक वगैरह लेना चाहिए। दूसरी रात वह तमाम टॉनिक और खाने-पीने की चीजें भर लाया। पहली बार मैंने अपने को स्त्री के रूप में देखा था और अपने जीवन की सार्थकता को महसूस किया था। बतरा खुद मुझे दवाइयां और टॉनिक पिलाता था।··· पर यह उसका एक भयानक फरेब था, मेरे साथ गहरा धोखा था। चार-पांच दिन बाद मुझे सख्त तकलीफ हुई और मैं पस्त हो गई···मेरा शरीर जैसे टूट गया। बतरा ने यह धोखा क्यों दिया था मुझे? एक दिन जब मैं उठने-बैठने लायक हुई तो चीख पड़ी—तुमने ऐसा क्यों किया।

मेरी मरज़ी! उसकी आवाज़ सख्त थी।

तुम्हें ?

कोई खास तो नहीं···यही कि रावलपिण्डी में आप दोनों के घर पास-पास थे और बतरा आपको चाहते भी थे···

वह तेज़ी से बोली—और अब नहीं चाहता ? तुम्हारा क्या खयाल है ?

उसके इस सवाल का कोई जवाब नहीं था मेरे पास। मैं खामोश ही रही। मैंने महसूस किया कि शीला के भीतर कुछ भयंकर उथल-पुथल हो रही है, जिसे दबाने की वह भरसक कोशिश कर रही है। वह बार-बार मेरी ओर इस तरह देख रही थी जैसे मुझे तौलने की कोशिश कर रही हो।

रात को मैंने बतरा को बताया कि शीला आई थी। उसने भी धीरे से कहा—हां, शाम को मुझे क्लब में मिली थी।

कोई भी औरत यह नहीं बरदाश्त कर सकती कि उसका कोई पुराना प्रेमी उससे प्रेम करना छोड़ दे।···वह जिसे घृणा भी करना चाहती है उससे भी प्यार का ही प्रतिदान चाहती है।·· यही उसकी सबसे बड़ी धरोहर है।

और शीला सतरंगी ज़िन्दगी जीते हुए भी बतरा का मेरे साथ रहना पसन्द नहीं कर पाई। वह रोज़ बतरा को क्लब में मिलती और उसे अपने साथ घुमाती। बतरा कभी-कभी देर से भी आने लगा—और एक दिन उसकी टैक्सी आकर घर पर रुकी। मेरा मन सनक उठा। बतरा के कमरे में जाकर मैंने सीधे-सीधे कहा, मैं यह पसंद नहीं करती, शीला वापस जाएगी।

बतरा भयंकर असमंजस में पड़ गया। वह कुछ भी नहीं कर पा रहा था। अपनी व्हिसकी पीते हुए वह बोला, उसे आने दो, तुम्हें इससे क्या फर्क पड़ता है ?

बहुत बड़ा फर्क पड़ता है···मैं यह बरदाश्त नहीं कर सकती। मैंने कहा तो वह बोला, इस वक्त शांत रहो। मैं सब ठीक कर लूंगा।

और तिलक, उस मानसिक खींचतान और परेशानी से मैं हार गई। शीला फिर घर पर आ गई थी। पूरे दिन मैं अपने कमरे में कैद रह-

जार करती रही कि वतरा कुछ तय करके मेरे पास आएगा। आखिर दरवाज़े पर दस्तक हुई। मैंने दरवाज़ा खोला तो वतरा नहीं, शीला सामने खड़ी थी। वह बेहद अपमानजनक ढंग से बोली, कल से आपकी नौकरी खत्म है! आप अपना कोई और इन्तज़ाम कर लें!

मैं सन्नाटे में आ गई। सिर्फ इतना ही पूछ पाई, वतरा कहां है?

वो बाहर गए हैं! शीला ने कहा, लेकिन जो कुछ मैंने आपसे कहा है, वही होगा। वतरा से बात करने का कोई मतलब नहीं है…फिर सुन लीजिए · कल से आपकी नौकरी खत्म है…

नौकरी! नौकरी! यह शब्द मुझे छेद गया। वतरा की बगैर मरज़ी यह सब नहीं हुआ होगा, यह मैं जानती थी। क्या मैं सिर्फ वतरा की नौकर थी? क्या सम्बन्धों की नींवें इतनी पोली होती हैं…क्या यह सब एक कीचड़ है, जिससे हर आदमी उकताकर भागता है?

मैं नितांत अकेली हो गई थी, तिलक! मेरे पास भी ऐसा क्या था जिसके सहारे मैं अपना अधिकार जताती! नौकर तो मैं थी ही और तनख्वाह के बदले में सब कुछ देती रही थी।…दूसरे दिन भी वहीं रुकी रही। मैं वतरा का इन्तज़ार करना चाहती थी और सब कुछ उसके मुंह से सुनकर रहे-सहे सम्मान के खोल को भी उतार देना चाहती थी। व्यर्थता मुझे चारों ओर से घेर रही थी। अपने हाथ-पैरों को देखती तो मुझे घृणा होती। अपने शरीर के अंग-अंग से मुझे गंदी बास फूटती लगती थी। मुझे लग रहा था कि मेरी मजबूरियों का फायदा उठाया गया है, मुझे भ्रष्ट किया गया है।

मैं कमरे में ही बैठी थी कि शीला फिर आई और बोली—आप अभी तक गई नहीं?…यह 'आप' सुनकर मेरा जी जल उठा था। मैं उठी और मैंने उसे दरवाज़े के बाहर ढकेल दिया और चटखनी बन्द कर ली थी। बन्द घुटते कमरे में मैं जी भरकर रोई…अपार असीम सागर फैला था मेरे सामने और मुझे बिना किश्ती के उसमें कूदना था। कौन-सा सहारा था जो मुझे पार लगाता! इन कड़वे क्षणों का बोध सिर्फ औरत को होता है।

रात उतर रही थी, मैं अंधेरे में पड़ी रो रही थी। सारा सामान झुंझलाहट में मैंने बिखेर दिया था। शीशा तोड़ दिया था।

उसी परेशानी में मैं कमरे से निकली और सड़क पर आकर खड़ी हो गई। मन में आया आत्महत्या कर लूं। लेकिन कैसे करती! मन कांप जाता था, पर अपनी व्यर्थता के बोध से मैं उबरना चाहती थी। रात में देर-देर बाद कोई आदमी उधर से गुजरता था—हर आदमी को देखकर मन में आता था, उससे नाटक करूं, गले में बाहें डालकर कहूं, मैं तुम्हें प्यार करती हूं···और जब वह मुझे घर ले जाए और मेरी ओर बढ़े तो उसका गला घोंट दू।

पर तिलक! मेरी सबसे बड़ी मजबूरी यही थी कि जो भी आदमी मेरे निकट आया, उसमें सुन्दरता की कोई-न कोई किरण मेरे लिए फूटने लगती थी। या तो उसका मन मुझे जीत लेता था, या उसके दुःख मुझे हार मानने को मजबूर करते थे, या उसका अपनापन मुझे मार देता था।

आज भी मैं बतरा को घृणा नहीं कर पाती। उसके दुखों ने मुझे जीत लिया था। अपनी सारी बुराइयों, बेईमानियों और बेवफाइयों के बावजूद हर आदमी मुझे बहुत मासूम लगता है। जब भी मैंने आदमी को अकेले में देखा है मेरा मन उसके लिए करुण हो आया है, क्योंकि हर आदमी जीवन में बहुत दुःखी है। और उसके दुःखों के बदले उसे सिर्फ प्यार ही दे सकती हू—मैं हर आदमी से अच्छी तरह बोलने के लिए, प्यार करने के लिए मन से मजबूर हू।

मैं तुम्हें देखती हू···तुम्हारे इन बढ़े हुए बालों को देखती हू तो ममता-सी उपजती है मन में। तुम सांस लेते हो, तुम्हारे उठते-बैठते सीने की इस गति से मुझे लगाव होता है। तुम जब बार-बार पलकें झपकते हो, तो तुम्हारे चेहरे से मासूमियत बिखरती है। यही सब मुझे बहुत प्यारा लगता है।

जरा गौर से देखो किसीको—आख-भर देखने के बाद जिसका मन ममता से न भर आए वह हृदयहीन है। मैंने उन्हें भी देखा है जो जघन्य जुर्म करते हैं···उन्हें गौर से देखने पर भी मन विश्वास नहीं कर प

इसी आदमी ने जुर्म किया होगा···

एक वार मैं आगरा स्टेशन पर बैठी हुई थी। दो पुलिस वाले किसी
ी को पकड़कर बैठे हुए गाड़ी का इन्तज़ार कर रहे थे। सच बताऊं
लक ! मैंने उस खूनी को देखा ··· उसकी गर्दन से पसीना वह रहा
और आंखों में मायूसी थी। मेरा मन हुआ, उसका पसीना अपने हाथों
पोंछ दूं और प्यार से पूछूं —तुमने ऐसा क्यों किया ? और मुझे ऐसा
गा कि वह खूनी आदमी सब कुछ सच-सच बता देगा और फिर कभी
ऐसा नहीं करेगा ···मैं उसे लेकर कहीं चली जाती···पर यह मुमकिन तो
नहीं होता···उसकी मासूम गरदन से पसीना बहता रहा। जब मैं बर्दाश्त
नहीं कर पाई तो स्टेशन के दूसरे छोर पर चली गई थी।

सोता हुआ आदमी मुझे इतना भोला और प्यारा लगता है कि मैं पूरी
रात उसके सिरहाने बैठकर काट सकती हूं, मेरा मन करता है, उसकी
पलकों पर उंगलियां फेरूं, उसके बालों को सहलाऊं, चेहरे के एक-एक
नक्श पर हल्के स्पर्श से लकीरें खींचती रहूं, उसे धीरे-धीरे छुऊं और
अपनी छाती से चिपकाकर सो जाऊं। बांहों की मांसपेशियों की उथली
गहराइयों में रोमों की जो लहरें-सी बनती हैं, मुझे बड़ी सुन्दर
लगती हैं। बांहें जहां से मुड़ती हैं, वहां पर भीगी-भीगी-सी जो लकीर
पड़ती है, बड़ी प्यारी लगती है। आंखों के कोनों में जो गीलापन है न,
उससे मासूमियत-सी फैलती है चेहरे पर। और बात करते हुए जब ओंठ
किसी बात को न कह सकने के कारण पत्ते-से कांपते हैं, तब मन होता
है उन पर हाथ रख लूं, अब बताओ, मैं आदमी से कैसे घृणा करूं
मिनट-दो मिनट की बात और है, किसी गुस्सा-भरे क्षण की बात नहीं
करती, पर दुनिया में जितना सुन्दर आदमी है उतना और कुछ भी नहीं
है तिलक !

और जब वही आदमी बांहें फैलाकर मुझसे कुछ मांगता है···
मेरी तरफ भरी-भरी निगाहों से देखता है तो मैं अपने को नहीं
पाती—यह जानते हुए भी कि कल यही मेरी बदनामी करेगा, कल
मेरी बुराई करेगा। और जब-जब वह ऐसा करके अपने को धोखा
है या डींग मारता है या बड़े बोल बोलता है, तो मुझे उसपर दया

है। बहुत बेचारा लगता है, तब वह आदमी।

बतरा भी उतना ही बेचारा लगा था जब वह मेरे सामने पड़ गया था। उसकी आंखों में बड़ी बेबसी थी। इन्तहा मजबूरियों में ही आदमी जंगली बनता है, ज्यादतियां करता है, वे मजबूरियां मन की हो सकती है, संस्कारों और परिस्थितियों की हो सकती हैं। ऐसा कौन है जो गलत काम करने के बाद पछताता नहीं? और पछताते हुए आदमी को देख लेने के बाद सिवा ममता और प्यार के कुछ भी नहीं दिया जा सकता।

...सबसे बड़ा झूठ मैं एक ही बोलती रही हूं। बहुत खूबसूरत झूठ है यह। जब-जब, जो भी मेरी जिन्दगी में आया, उसने जाने-अनजाने, घुमा-फिराकर या सीधे-सीधे हमेशा यही जानने की कोशिश की कि मैंने पहले किसीसे प्यार तो नहीं किया। पुरुष का यही सबसे बड़ा सतोष है। और मैंने अपने हर प्रेमी से यही कहा है कि तुम मेरी जिन्दगी मे पहले हो, तुम प्रथम हो! यह खूबसूरत फरेब मैं करती रही हूं। इसके अलावा मैं और कुछ कह भी नहीं सकती थी। मैं हर पुरुष से यही चाहती रही हूं कि वह मुझे अपना अंतिम प्यार दे, मेरे बाद उसकी जिन्दगी में कोई न हो।

लेकिन ऐसा होता नहीं तिलक! न होने पर भी इस खूबसूरत फरेब में रहा तो जा सकता है, इसके लिए जिया जा सकता है।

बतरा ने मुझे जबरदस्ती कुछ दिन के लिए रोक लिया था, नहीं तो मैंने सोचा था फिर मैं अपनी सहेली दमयन्ती के पास नागपुर चली जाऊंगी। वह वहीं एक अस्पताल में नर्स थी। लेकिन बतरा ने किसी और से कह कर मेरे लिए ट्यूटर-गार्जियन की एक जगह दिलवा दी थी। अगर मुझे पहले पता चलता कि यह बतरा के सहारे हुआ है तो मैं भूखों मरना पसन्द करती, पर वह नौकरी न करती। बतरा यह जानता था कि उन परिस्थितियों में मैं उसका एहसान नहीं लूंगी, इसीलिए उसने मिसेज कृष्णन के जरिये यह काम कराया था। वह हमारी पड़ोसिन थी। ट्यूटर-गार्जियन का काम मिलते ही मैं बतरा के घर से चली गई...कोई

मुझे छोड़ने नहीं आया—सिर्फ नौकर की आंखों में पानी था। चलते वक्त उसने सलाम किया था और फाटक तक आकर तब तक देखता रहा था, जब तक मेरी टैक्सी मोड़ पर घूम नहीं गई थी।

यह मेरी जिन्दगी का तीसरा मोड़ था।

इसीके साथ मुझे आसाम की याद आती है ' डा० चन्द्रमोहन के बारे में मैंने पहले भी तुम्हें बताया था। उम्र उनकी पचास से ऊपर थी और उनके दो बच्चे थे जिन्हें पढ़ाने और देखभाल के लिए मैं रखी गई थी। बच्चे आठ और दस साल के थे। उन्हें गार्जियन की इतनी जरूरत नहीं थी जितनी कि स्वयं डा० चन्द्रमोहन को। डा० चन्द्रमोहन की अकेली बहन शिलांग में थी, इसीलिए उन्होंने डिबरूगढ़ में एक नौकरी स्वीकार कर ली थी। अपने बच्चों को वे आंखों के सामने ही रखना चाहते थे। वहां बड़ी सीधी तरह से जिन्दगी चल निकली। आसाम में नागा विद्रोह को दबाने के लिए उन दिनों सेंट्रल रिज़र्व फोर्स की टुकड़ियां जा रही थीं और वहां खासी हलचल थी।

मेरी जीवनी का यह टुकड़ा सबसे छोटा पर सबसे दुखद है। अभी डा० चंद्रमोहन के घर चार महीने ही काम करते हुए थे कि आसाम जाने की तैयारी होने लगी। घर में सामान बांधा जा रहा था और मैं इस सोच में बैठी हुई थी कि अब कहां जाऊंगी। आसाम जाना मेरे लिए संभव नहीं था'''और फिर डाक्टर मुझे क्यों ले जाता? बच्चों से स्नेह हो ही जाता है पर इससे क्या! वह तो बहता पानी है।

मैं अपनी सहेली के पास नागपुर ही जा सकती थी, और कौन-सा सहारा था मेरा! सचमुच मन बेहाल था। जिस नाव पर पैर रखती, वही डूबने लगती थी। और कोई चारा भी नहीं था। इसी सोच में बैठी हुई थी कि छोटे रंजन ने आकर कहा—पापा बुला रहे हैं।

मैं समझी हिसाब-किताब करेंगे और क्या होगा! कमरे में गई तो डाक्टर ने बढ़कर मुझे बैठने को जगह दी और बोले—तुम डिबरूगढ़ चल सकती हो?

उतनी दूर जाकर क्या करूंगी, डाक्टर ?

मैं सोचता हूं, बच्चों को खास तौर से हिंदी पढ़ाने के लिए वहां किसीका मिलना मुश्किल होगा। अगर तुम चल सको तो अच्छा रहेगा। बड़ी खूबसूरत जगह है···मैं दिन-भर अस्पताल में रहूंगा तो इन बच्चों की देखभाल नहीं हो पाएगी···क्यों कोई हिचक है ? या कोई दिक्कत ?

नहीं-नहीं, ऐसी कोई बात नहीं, पर मैंने कभी भी आसाम जाने की बात सपने में भी नहीं सोची थी, इसलिए थोड़ा अटपटा लगता है··· और क्या बात हो सकती है ? मैंने कहा।

शायद तुम यह भी सोच रही हो कि मेरे साथ आसाम जाने पर तुम्हारे रिश्तेदार वगैरह क्या कहेंगे···नौकरी तो तुम्हें यहां भी पचासों मिल सकती हैं, फिर जाने की क्या ज़रूरत ? पर मैं सोचता हूं कि··· मेरे कहने का मतलब है कि··उसकी जबान सूख गई थी और मैं असमंजस में बैठी थी, आखिर डाक्टर कहना क्या चाहता था ?

दूसरी तरफ देखते हुए डाक्टर ने सीधी-सी बात कह दी—अगर तुम्हें मंजूर हो तो हम शादी भी कर सकते हैं !

यह कह और सुन चुकने के बाद कई क्षण तक कोई नहीं बोला। फिर डाक्टर ने ही खामोशी तोड़ी—तुम्हें देखते हुए मैं कह नहीं पा रहा था, पर यह तुम्हारे मन पर है कि तुम इसे मंजूर करो या न करो। मैं तुम्हारे लायक भी नहीं, पर जो बात मन में थी, वह मैंने कह दी। सोच लो, और क्या कह सकता हूं, मैं सिर्फ कह सकता था, अब जैसा तुम चाहो।

जब डाक्टर कोई प्यार-भरी बात करता था तो उसके मुंह के कोनों में सफेद झाग आ जाता था, उससे मुझे परेशानी होती थी। उसके चेहरे की ओर देखना मुश्किल हो जाता था। और यह उसका तकिया-कलाम था—अब जैसा तुम चाहो ! इस तकिया कलाम को मैं भूल नहीं पाई हूं। वह बहुत मोटे शीशे का चश्मा भी नहीं भूल पाई हूं जो उसकी आंखों पर रहता था।

मैं बेसहारा थी, पर डाक्टर के लिए मेरे मन में किसी भी तरह की उद्दाम भावना नहीं उठती थी, नफरत मैं उससे भी नहीं कर पाती

हां मुझे कुछ बातों से चिढ़ जरूर होती थी।

वह धीरे से बोला, मैं तुमसे तुम्हारी जिन्दगी माँग रहा हूं···मेरे स रुपये के सिवा कुछ भी नहीं, पर तुम मुझे सहारा दे सकती हो··· कर जैसा तुम चाहो !

मैंने खूब समझ-बूझकर उसे यही जवाब दिया कि शादी की बात मैं नहीं सोचती, पर साथ चल सकती हूं। बच्चों की देखभाल में कोई फर्क नहीं पड़ेगा। और पांचवें दिन मैं डाक्टर चन्द्रमोहन और दो बच्चों के साथ डिबरूगढ़ के लिए रवाना हो गई। चौथे दिन हम वहां पहुंच गए। डिबरूगढ़ की बस्ती में दो कमरों का अस्पताल था, जहां एक टूटी-सी अलमारी में दवाइयों की कुछ शीशियां और औज़ार थे। एक मेज डाक्टर के लिए थी और दूसरे कमरे में छः पलंग थे जिनपर गद्दे वगैरह रोगियों के आने के बाद बिछाए जाते थे। अंग्रेज़ी दवाइयों में वहां के लोगों का ज्यादा विश्वास नहीं था···वे खुद अपने वैद्य हैं।

डिबरूगढ़ पहुंचकर मानसिक और शारीरिक आराम भी मिला। यह छोटी-सी बस्ती है। कहां दिल्ली की धूमधाम और कहां डिबरूगढ़ का शांत वातावरण। नीले पहाड़ों का वह भूखण्ड बड़ा ही मनोरम है तिलक ! काश्मीर की अपनी सुन्दरता है, पर आसाम की खूबसूरती बयान नहीं की जा सकती। ब्रह्मपुत्र से सुन्दर कोई नदी नहीं है, धरती पर···

छरहरे शरीर और पीले रंग के पुरुषों और औरतों को देखकर मन रम गया था। सचमुच जीवन का एक अनुभव ही था आ जाना। और कामरूप···सचमुच कामरूप है···जादू का देश !

दूर-दूर तक फैले हुए नीले पहाड़ और उनके उठे शिखरों से उ हुए घुंघराले बादल। नीले आसमान की पृष्ठभूमि पर गहरे नीले की उन्नत चोटियां मुझे बहुत लुभाती थीं। छोटे-से पर साफ-सुथरे की खिड़की से मैं घंटों बांस के वनों और नीले पहाड़ों को देखती थी। पहाड़ी ढलानों पर कहीं-कहीं हरे झरने-से दिखाई पड़ते चाय के बाग थे, जिनकी हरियाली सबसे अलग थी।

एक शाम मैं बच्चों को पढ़ाकर बाहर निकल आई। दूर नीले पहाड़ कालिख में डूब चुके थे···तभी एक डरावना-सा दृश्य दिखाई पड़ा।

काले पहाड़ पर से आग का दरिया बहता हुआ आ रहा था और हज़ारों मशालें ऊपर-नीचे जल रही थीं, गोले फटने जैसी आवाज़ें आ रही थीं। मैं घबराकर अन्दर भाग गई। डाक्टर को पुकारा तो भागता हुआ नौकर आया···मैंने उसे दिखाते हुए पूछा कि यह क्या है, तो वह बड़ी ही सरलता से मुस्करा दिया···मैं उसकी बोली भी ठीक तरह से नहीं समझ पाती थी। डाक्टर कुछ-कुछ समझ लेता था। मेरे कंधे पर अभय का हाथ रखने की चेष्टा करते हुए डाक्टर ने मुझे समझाया—बांस के जंगलों में आग लगी है। ये धड़ाके बांस फटने के हैं और यह आग का जो दरिया ढलान से नीचे उतर रहा है वह फैलती हुई आग है···यहां की खेतिहर जातियां बंजारों का जीवन बिताती हैं। जंगल जलाकर वे कुछ दिन यहां खेती करेंगे, फिर आगे बढ़ जाएंगे, यही इनकी जीविका का साधन है। खेत बनाने के लिए उन्होंने जंगल जलाया है। अब जैसा तुम चाहो!

डाक्टर का सूखा-सूखा हाथ मेरे कंधे पर थरथरा रहा था। भयग्रस्त नारी को सांत्वना देने का काम कायर पुरुष भी कर लेते हैं।

-डिबरूगढ़ में थोड़े दिन बाद मुझे अकेलापन काटने लगा। सौन्दर्य के बीच रहते हुए भी व्यक्ति को ऊब हो सकती है। एकरसता जीवन का धर्म नहीं है। पर मैं लौटकर कहीं भी जाने की बात जब सोचती तो दम फूलने लगता। मेरे जैसा अकेला भी कोई होगा भला! कहां ये सींग समाएंगे! आखिर मेरे मन का चोर भी जागा—इतनी ठोकरें खाने के बाद शायद भीतर-भीतर मैं जीवन की सुरक्षा चाह रही थी···मैं शायद ऐसी हालत में थी कि किसी भी गलत मंजिल पर रुक सकती थी। पहाड़ी रास्तों पर चलते-चलते गंदी दुकान की चाय भी पीनी पड़ती है, उसी तरह का सवाल था मेरे साथ।

और डाक्टर हर रोज मेरी तरफ लालसा-भरी निगाहों से देखता

था और अपने रुपये का हिसाब समझाता था। यह उसका नियमित कार्यक्रम था—चश्मा लगाकर मुझे देखना और इधर-उधर से बात जोड़-तोड़कर रुपयों पर ले आना। चूंकि उसके मुंह के कोनों में सफेद झाग आ जाता था, इसलिए मैं समझ लेती थी कि अब वह प्यार से पीड़ित है।···अब जैसा तुम चाहो ! बस इसी पर उसकी बात टूटती थी। पर मैं कुछ भी चाह नहीं पाती थी। उससे मैं क्या चाह सकती थी ? रोज यही होता था। वह हमेशा पूरे कपड़े पहने रहता था। वैसे अपने कमरे में वह कमीज़ उतारकर बैठता था, पर ऐसे मौके पर जब उसे मेरी आंख के सामने पड़ना होता था, वह कमीज़ पहनकर और कफ के बटन बन्द करके ही आता था। उसकी निरीहता पर मुझे तरस आता था।

कभी-कभी वह मुझे बहलाने के लिए अपनी विद्वत्ता और ज्ञान का प्रदर्शन भी करता था···ऐलोपैथी का डाक्टर होते हुए भी वह आयुर्वेद पर भाषण देने लगता था—आयुर्वेद के आठ अंग हैं इरा जी ! शल्य, शालाक्य, काय-चिकित्सा, कौमार भृत्य, भूत विद्या, अगदतंत्र, वाजीकरण और रसायनतन्त्र !

रसायनतन्त्र से ही आज की डाक्टरी की पूरी विद्या निकली है और शल्य से सर्जरी ! अपने देश में क्या नहीं था ? समझीं ! फिर जैसा तुम चाहो···

और वह आगे कहता—

आसाम के गारो और गासी तो खास तौर से अच्छी वैद्यक जानते हैं। घाव, हड्डी टूटना आदि का इलाज तो ये हड़जोड़, पोजो और ककरोंधा से कर लेते हैं। कुछ की दवा हम आज तक नहीं खोज पाए, पर इन आदिम जातियों ने कई जड़ी-बूटियों को पहले से खोज रखा है··· कोरैया, अनन्तमूल और गखुला से ये उसका इलाज भी कर लेते हैं··· हैं···हैं···अब जैसा तुम चाहो।

मुझे खामोशी से सुनते देख वह बोलता जाता—जिसे हम मानसिक व्याधि कहते हैं—यानी भूत-प्रेत, उसका इलाज भी इनके पास है।

तो फिर यहां आने से फायदा ? मैंने कहा और उसकी ओर देखा—उसके मुंह के कोनों में झाग भर रहा था। बस, फिर उसने क्या कहा,

मैंने ध्यान नहीं दिया। उसकी आत्मा प्रेम से व्याकुल हो रही थी।··· मैं बहुत छटपटाती थी, पर मेरे लिए कोई किनारा नहीं था। धीरे-धीरे डाक्टर को मैं गौर से देखने लगी, शायद उसमें कुछ ऐसा हो जिसे मैं चाह सकूं, तो यह हर क्षण की चिढ़ तो न हो।

आखिर एक दिन हारकर मैंने शादी की स्वीकृति दे दी। मेरे सामने कुछ भी नहीं था। जब दलदल से निकलना हो ही नहीं सकता था तो बेहतर था कि एक बड़ा-सा पत्थर अपने पर डाल लूं और आकण्ठ उसी में समा जाऊं। निश्छल प्यार कर सकने की स्थिति मेरी नहीं थी। डाक्टर को पैसे का सहारा था। और सच पूछो तो मुझे भी वह सहारा उस वक्त छोटा नहीं लगा था। आज मैं जो थोड़ी-सी आज़ाद हूं, उसी के बल पर हूं, नहीं तो लोग मुझे खा गए होते।

दूसरे महीने हमने शादी कर ली। जब तक हमने शादी नहीं की, डाक्टर ने कभी मेरे शरीर को छूने की हिम्मत नहीं की थी। भीतर-भीतर वह भारतीय संस्कृति का अंधा प्रेमी, आदर्शवादी और बड़ा ही कायर था। कायर वह भी है जो अपना अधिकार स्थापित न कर पाए। डाक्टर कभी भी अपना अधिकार मुझपर नहीं जमा पाया। जिस रात हम शिलांग से शादी करके लौटे, उसी रात पहली बार डाक्टर ने मेरी कमर में कांपता हुआ हाथ डाला था। मुझे लगा था जैसे कोई मरा हुआ सांप मेरी कमर में लिपट गया हो और जब पहली बार कांपते हुए उसने मुझे प्यार से चूमा था, तो मैं गिजगिजाहट से भर गई थी··· जैसे किसी मेंढक पर मेरे ओंठ पड़ गए हों।

···अब कल्पना करो मेरे सुख की! चारों तरफ से हताश होकर मैं अपने को मारने पर तैयार हो गई थी। एक इरा उसी दिन मर गई, तिलक ··एक इरा उसी दिन ज़िन्दा दफन हो गई।

वह मेरे पास लेटता तो उसकी टांगें डर से कांपती रहतीं···वह सिर्फ मुझे परेशान करता था···मुझे अस्त-व्यस्त करके भयातुर-सा चिपका रहता था और फिर दांत निकालकर पास की मेज़ पर रख देता और दागदार मुंह से कहता था—अब जैसा तुम चाहो!

कितना बड़ा व्यंग्य था यह—अब जैसा तुम चाहो ! मैं क्या चाह सकती थी ? चाहने को रह ही क्या गया था ? कभी-कभी जब मेरे भीतर का पशु जागता था तो उसका चश्मा उतारकर रख देती थी, तब वह जैसे अंधेरे में बिलबिलाता था। कुछ दिनों बाद मैंने उसे अपने पास आने से मना कर दिया, अगर वह आता तो मैं कमरे से निकलकर चट-खनी चढ़ा देती थी और खुद बाहर वाले कमरे में जाकर लेट रहती थी। तब वह रोता था और दरवाज़े पर माथा फोड़ता और चीखता था—इरा, मुझे निकाल दो, अब नहीं आऊंगा…

उसे सताकर भी मैं चैन नहीं पाती थी। और वह भी मुझे कम नहीं सता रहा था। मेरे लिए वहां रहना मुश्किल होता जा रहा था। जैसे-जैसे शाम आती, मेरा मन घबराने लगता था।

एक रोज़ जब उसने मुझे बहुत छेड़ा तो मैंने उसके हाथ बांध दिए। वह नकली दांत भी निकालकर रख चुका था, नहीं तो उन्हींसे मुझे काटता। वह मुझे टांगों से मारता रहा और अपने को कोसता रहा… उस रात बारिश हो रही थी और हाथ बंधने के बावजूद वह मान ही नहीं रहा था। बार-बार कहता था—तुम मेरी बीवी हो ! तुम मेरी बीवी हो…मेरा जो मन आएगा करूंगा…

और अपने को असहाय पाकर वह रोने लगा। मेरी आत्मा को बड़ा कष्ट हो रहा था। पर मैं झुंझला रही थी। आखिर मैंने उसके हाथ खोल दिए। वह भीतर गया और शराब के कुछ घूंट पीकर फिर आया और उसकी मरे सांप जैसी बांहें मेरे चारों ओर लिपटने लगीं। मैं पलंग से उतर गई। पागलपन की सीमा छूते हुए वह मुझपर टूट पड़ा—जैसा मैं कहूंगा वैसा करोगी तुम ! नहीं करोगी तो निकल जाओ…निकल जाओ। और छिपकली की तरह ज़बान निकालकर वह अपने ओंठों पर बार-बार फेरता रहा था।

मैं बरदाश्त करती रही, करती रही। अब उसने देखा कि मैं न बाहर जा रही हूं और न उसके पास आ रही हूं तो वह मेरे ऊपर लपका। मैंने पूरी ताकत से उसे पकड़ा और बारिश में ही उसे दरवाज़े के बाहर कर दिया। वह भीगता रहा और चीखता रहा। आसपास कोई घर भी

नहीं था और बास के पेड़ों पर पानी शोर भी ज्यादा करता है, इसलिए उसकी आवाज़ कुछ असर नहीं कर रही थी। मैं कितनी क्रूर बनती, कब तक सहती ? यह उसे सताने की बात नहीं बल्कि खुद अपने को सज़ा देने की बात थी। मैं अपने को सताती थी। आखिर मैंने दरवाज़ा खोला था और वह पैर पटकता हुआ भीतर आया। रात-भर कम्बल ओढ़े वह एक तरफ सोता रहा था।

सुबह उठते ही वह मेरे पास आया और बोला—इरा जी, मुझसे बार-बार गलती होती है, मुझे माफ कर दो···अब मैं कभी नहीं करूंगा··· अब जैसा तुम चाहो।

मुझे बड़ा रहम आता था उसपर। उतना ही रहम अपने पर आता था। मेरे भीतर की एक इरा अपना पूरा व्यक्तित्व लेकर अलग खड़ी हो गई थी और वह हम दोनों को देखा करती थी। जब मैं चाय बनाने उठी, तो उसने मेरा हाथ पकड़कर छोड़ दिया और बोला—मैं अभी नौकर से बनवाकर लाता हूं। कहते हुए उसके मुंह के कोनों में प्यार का झाग आ गया था और उसपर दया करते हुए भी मैंने मुंह फेर लिया था।

पता नहीं कब बाज़ार जाकर वह मेरे लिए मेखला और चादर खरीद लाया। बड़ी ही खूबसूरत थी मेखला ! असमिया कला का नमूना···औरतों की यही पोशाक है वहां। मैंने उसकी खुशी के लिए मेखला पहनी और चादर भी डाल ली। देखते-देखते उसके झाग निकलने लगा और टांगें कांपने लगीं। चश्मा उतारकर उसने मुंह नीचा कर लिया।

मुझे खुश रखने के लिए वह भरसक कोशिश करने लगा था। एक दिन अस्पताल से लौटा तो कुत्ते के दो बच्चे बमुश्किल तमाम वह अपनी गोद में दबाकर लाया और बोला, तुम्हारे लिए लाया हूं इरा जी ! इन्हें तुम्हारा मन बहलेगा···

पिल्ले सुन्दर थे, पर मेरा जी उबकाने लगा। डाक्टर की [illegible] किसी भी चीज़ से मेरा मन घबराने लगता था। जब भी मैं उन [illegible]

देखती या छूती तो वे मुझे डाक्टर की ही तरह लिजलिजे और गंदे लगते। वैसी ही निरीहता से वे पिल्ले ताकते थे और एक-दूसरे से चिपककर सोते थे···मन में घृणा उबाल खाने लगी और मैंने दूसरी सुबह ही उन्हें भगा दिया। शाम होते-होते डाक्टर के लौटने से पहले एक पिल्ला फिर वापस आ गया···मेरा जी घबराने लगा। उसे देखकर मैं पागल हुई जा रही थी, उसे बाहर पटककर मैंने दरवाज़ा बन्द कर लिया। कुछ देर बाद डाक्टर ने आवाज़ दी और दरवाज़ा खोलते ही वह पिल्ला भी दुम दबाकर उसके साथ भीतर आ गया। मैं रात-भर नहीं सो पाई थी। हर क्षण लगता था जैसे तमाम पिल्ले मेरे शरीर से चिपके हों और अपनी लेसदार जीभ से मुझे चाट रहे हों। आधी रात में उठकर मैं खूब नहाई। जब सरदी सताने लगी तो मैं निकलकर आई। पर उस रात मुझे नींद बिलकुल नहीं आई।

डाक्टर पिल्ले पर हाथ रखे सोता रहा था।

सुबह मेरा सर भारी था। हृदय पर हज़ारों मन भारी पत्थरों का बोझ था। मैंने डाक्टर को बुलाया और हुक्म दिया, इस पिल्ले को छोड़ आओ···

मैं इसे नहीं छोड़ूंगा। डाक्टर ने गुस्से से कहा तो मैंने साफ-साफ कह दिया—अगर इसे नहीं छोड़ोगे तो शाम को घर आने की ज़रूरत नहीं है।

और शाम को जब वह आया तो पिल्ला नहीं था। मैंने राहत की सांस ली। पर वह क्षणिक राहत कब तक साथ देती ! मेरी जिन्दगी का राग-रंग खो गया था। मेरे पास कुछ भी नहीं था···

और जब असमिया औरतें मेखला और चादर पहन-पहनकर राग-रंग-भरे बीहू त्योहार का इन्तज़ार करते हुए नाचतीं और गातीं···

बीहू लोई कोई दिन आसे सामानिया।
बीहू लोई कोई दिन आसे
उजानी नामानी मारो के उखानी
बीहू लोई बारा दिन आसे !

"कितने दिन बाकी हैं बीहू के आने मे सखी...मैं हर दिशा में देखती हूं...उत्तर और दक्षिण देखती हूं...ओह ! अभी तो बारह दिन बाकी है !

"पर तिलक ! मेरे जीवन का बीहू तो हमेशा-हमेशा के लिए चला गया था, अब फिर वह नहीं आनेवाला था। सब दिशाएं बन्द थी मेरी · सोचती थी कि मैं बारह जन्मों तक इंतजार करूंगी, फिर भी बीहू का रागरंग मुझे नसीब नहीं होगा...

तिलक ! जब धान कट चुकता था, पागल बना देनेवाली हवा चलती थी और जगल मे नई कोपलें फूटती थी, तब मेरा मन रोता था... आसाम के बास जैसे लचकीले पुरुष और नारिया जब झूम-झूमकर गाते और नाचते थे, और नये घर बसाए जाते थे तो मैं खिड़की पर सर रखकर रोया करती थी।...मेरी खुशियां कहा चली गईं ? क्या मुझे यह सब नही मिलना था... ऐसा कौन-सा पाप किया था मैंने जो जीवन के सारे सहारे खो दिए थे। क्या मैं घर नहीं बसा सकती थी ? एक नई जिन्दगी शुरू नहीं कर सकती थी ?

एक-एक आवाज पर मेरा मन रोता था...अंग-अंग से दुख के स्वर फूटते थे। मैं तपती रेत के दलदल मे फंसी हुई थी। मेरा सब कुछ झुलसा जा रहा था...मेरी आत्मा मर गई थी। बावजूद अपनी हारों और निराशाओं के, जो कुछ मैं नहीं थी, वही बनती जा रही थी। मैं जानवर होती जा रही थी। भावनाओं की कोमल स्वर-लहरियां अब मन के किसी भीतरी कोने मे भी नहीं गूजती थी। मेरे शरीर पर नकली दांतों के दंश थे। मैं पहाड़ों की तरह जड और नीली पड़ती जा रही थी। बांस-वनों से जैसे खोखली हवा बीरान सीटियां बजाती हुई गुजरती है, वैसे ही अरमानों की सासें सीटियां बजाती गुजरती थी और वीरानों मे खो जाती थी। मैं आग के दरिया में बह रही थी और मन की अच्छाइयां लपटों मे चटख-चटखकर दम तोड़ रही थी।

आखिर मैं डाक्टर से कहकर एक दिन डिबरूगढ से चली आई और

नागपुर में अपनी सहेली के पास पहुंच गई। मैं डाक्टर को एकदम भूल जाना चाहती थी, पर ज़िन्दगी की चट्टान पर पड़े हुए निशान जल्दी नहीं मिटते। उधर आसाम में विद्रोहियों के बलवों तथा हमलों की भी खबरें आ रही थीं। नागपुर पहुंचकर एक बार मन हुआ कि बम्बई हो आऊं। न जाने मन में क्यों यह बात आई थी...शायद विमल कहीं मिल जाए।...शायद वह मिल ही जाए...

मुझे दमयंती के पास पहुंचे सात-आठ दिन ही हुए थे कि एक रात कम्पाउण्डर का भेजा हुआ तार मिला—डाक्टर गोली लगने से घायल हो गए हैं, फौरन आइए!

बावजूद उफनती घृणा के मैं रुक नहीं पाई। आखिर वहां परदेश में उसका कौन था! तीन दिन बाद जब मैं डिबरूगढ़ पहुंची, तो पता चला कि वह अस्पताल में ही पड़ा है। मेरे वहां पहुंचने से पहले शिलांग से उसकी बहन आ चुकी थीं। डाक्टर को ऐसी हालत में देखकर मेरी आंखों में आंसू आ गए। गोली लगने से जैसे उसके भीतर का लिजलिजा और कायर आदमी मर गया था। दाहिने फेफड़े से गोली पार हो गई थी। वह फेफड़ा चिथड़ा हो चुका था। दूसरे डाक्टर लोग उसकी जीवनी-शक्ति की तारीफ कर रहे थे...उसे कभी-कभी होश आता था। बीच में होश आते ही उसने मुझे पहचाना था और उसके ओंठ हिले थे... नकली दांत अलग रखे हुए थे, चश्मा उतरा हुआ था, जिसके कारण वह एकदम बदला हुआ लग रहा था। और आसाम के नुकीले नीले पहाड़ों की तरह उसके नाखून सुन्दर लग रहे थे, मेरा मन उसे देख-देखकर भर आता था...जो कुछ भी हो, उसका मरना मुझसे नहीं सहा जा रहा था...मुझे देखकर उसने कुछ कहने की कोशिश की तो वही झाग मुंह के कोनों में आ गया था...और मुझे लग रहा था जैसे वह ओंठों में बुदबुदा रहा हो—अब जैसा तुम चाहो।

...अब जैसा तुम चाहो! उसकी खामोश आवाज़ बार-बार मन में घुमड़कर गूंजती थी—अब जैसा तुम चाहो। और मुंह के कोनों में प्यार का झाग जमा हुआ था...जैसे वह झाग कहता हो—अब जैसा तुम चाहो।

और मरी आत्मा ने चीखकर कहा था—मैं चाहती हूं तुम जी जाओ···तुम जी जाओ। मैं यही चाहती हूं। और उस झाग को मैंने पहली बार हलके से पोंछा था। मन में आता था कि अगर डाक्टर के सीने का घाव मेरे चिपका लेने से भर जाए तो मैं बारह जन्मों तक उसे वैसे ही चिपकाए रहूं, मरे हुए सांपों-सी बाहें स्वीकार करती रहूंगी।

लेकिन डाक्टर को फिर होश नहीं आया, पांचवें दिन बहुत-सा झाग उसके मुंह से आया और दम टूट गया। उस वक्त उसके हाथ मेरे हाथों में अकड़ रहे थे···और अंधी आंखों की पुतलियां पलटा खा रही थीं।

मैं पछाड़ खाकर रो पड़ी थी, तिलक! मैं जिससे मुक्ति पाना चाहती थी, वही मिल जाने के बाद आत्मा पर और गहरा बोझ आ पड़ा था। मरते हुए आदमी को देखने की दारुण व्यथा से कोई भी पीड़ा बड़ी नहीं है।

आज भी डाक्टर का अस्फुट स्वर सुनाई पड़ता है—*अब जैसा तुम चाहो।* पर चाहते हुए भी मैं उसे बचा नहीं पाई। लेकिन इतना कह देने से मैं उऋण नहीं हो जाती। यह ऋण मैं कभी भी उतार नहीं सकती···और मेरे पास इसका कोई भी जवाब नहीं है जो मैं डाक्टर की आत्मा को दे सकूं—*अब जैसा तुम चाहो! अब जैसा तुम चाहो!* यह प्रश्न हमेशा मुझसे लिपटा रहेगा। इसे छुड़ाकर और बाहर [illegible] चटखनी बन्द करने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि आत्मा में चटखनी नहीं होती।

आसाम में अब भी बीहू मनाया जाता होगा। बान-बनों [illegible] लगती होगी। धान कटने पर नशीली हवा बहती होगी और [illegible] जाते होंगे। घरों में चरखे चलते होंगे और धरती [illegible] होगी···*तरुणियां मेखला पहनकर मस्ती में गाती और* [illegible] नीले पहाड़ों को घुंघराले बादल चूमते होंगे··· पर मेरे [illegible] सिर्फ एक आवाज़ गूंजती है—*अब जैसा तुम चाहो*

…डाक्टर को किसी विद्रोही ने गलती से गोली मार दी थी, यह [illegible]कर कि वह कोई बड़ा सरकारी अफ़सर है। डाक्टर की बहन से मैंने [illegible] कहा कि मैं दोनों बच्चों को दिल्ली ले जाऊंगी; उन्हींके साथ [illegible]गी और उन्हें पढ़ाऊंगी-लिखाऊंगी, पर वे नहीं मानीं। डाक्टर के उस [illegible]क्य का जवाब मैं ऐसे ही दे सकती थी—मैं रंजन और विजन को [illegible]पने साथ ले जाना चाहती हूं। बस यही चाहती हूं मैं…इन्हींके लिए [illegible] जी लूंगी। पर हर व्यक्ति को जीवन में उठे अहम सवालों का जवाब [illegible]देने का मौका नहीं मिलता।

मैं डाक्टर को जवाब नहीं दे पाई। उसकी बहन कुछ दिनों बाद अपने पति के साथ दोनों बच्चों को लेकर शिलांग चली गई थी। आजकल रंजन शिलांग में डाक्टरी पढ़ रहा है और विजन शायद इण्टर में है।

शिलांग जाने से पहले उसकी बहन ने मुझे सांत्वना देते हुए कहा था—तुम्हारा घर अब भी है…जब मन चाहे शिलांग चली आना। ये बच्चे भी तुम्हारे ही हैं, जब कहोगी इन्हें तुम्हारे पास दस-पांच रोज़ के लिए भेज दूंगी। यह मत समझना भाभी, कि भइया के न रहने से तुम्हारे रिश्ते टूट गए…

रिश्ते ! घर ! पहली बार सुना था इन शब्दों को। इतने दिनों [illegible] यह भूल ही गई थी कि एक घर भी होता है और रिश्ते भी होते हैं और ये रिश्ते जीवनपर्यन्त रहते हैं। जीवन के बाद भी इन रिश्तों [illegible] लोग याद कर लेते हैं, और रो लेते हैं। डाक्टर से भी मेरा कुछ रि[illegible] था, इसीलिए तो रोई थी। नहीं तो न जाने कितने लोग रोज़ मरते हैं [illegible] मैं इस मृत रिश्ते को लेकर ही बाकी वक्त गुज़ार लेना चाहती [illegible] क्या एक रिश्ता काफी नहीं होता ? पश्चात्ताप का ही रिश्ता सही। उसी पश्चात्ताप के रिश्ते को मैं अभी तक निभा रही हूं, तिलक ! ज़िन्दगी का सबसे दुखद अध्याय यही है।

पश्चात्ताप का रिश्ता और वह गूंज—अब जैसा तुम चाहो [illegible] इनकी बहन जा रही थीं। बच्चों का सामान जब बांधा [illegible]

था, तो मैं पत्थर रखे सब बरदाश्त करती रही थी। मैं एकाएक कैसे बदल पाती। उसी तरह अनासक्त खड़ी थी और सोच रही थी मैंने तो सचमुच बच्चों की उस दुनिया की ओर भी कभी पूरा ध्यान नहीं दिया था। सिवा पढ़ाने और खाना खिलाने के मैंने उनका कुछ भी नहीं किया था। और जब वे मेरे पैर छूकर चले तो ममता से मेरा हृदय फट पड़ा था। यह ममता इतनी देर बाद क्यों उपजी थी ?···पर थी कहीं भीतर ही, जिसे अपनी परेशानियों में सहेजना भूल गई थी···सेमल के मांसल लाल-लाल फूल।

डाक्टर की बहन ने चलते समय कुछ कागज मुझे सौंपे थे और कहा था—भइया पच्चीस हजार रुपया इन बच्चों के लिए छोड़ गए हैं, वह मेरे नाम हैं ताकि मैं इनकी पढ़ाई और देखभाल में लगाऊं। यह पच्चीस हजार का कागज तुम्हारे लिए छोड़ गए हैं, भाभी! ताकि तुम्हें दिक्कत न हो।

सचमुच डाक्टर बहुत समझदार था।

उसकी मृत्यु के साथ ही मेरे जीवन का तीसरा और सबसे दुखद और करुण अध्याय समाप्त हो गया। कुछ मेरे भीतर मरा भी और कुछ बहुत अच्छा पैदा भी हुआ। डाक्टर एक पारस पत्थर की तरह था। जो सोना बन सकता था, उसे वह सोना बना गया, जो मिट्टी था वह मिट्टी रह गया। मेरे लिए वह सब कुछ करता था। मेरा मन बहलाए रखने को वह कुत्ते के पिल्ले लाया था, मेखला लाया था और फूलों की वेणियां बनवाकर लाता था। मुझे अपने साथ नीले पहाड़ों की घाटियों में घुमाने ले जाता था। वंसवट के नीचे बिठाकर वह प्यार की बातें करता था और वही झाग उसके ओंठों के कोनों में जमा हो जाता था। तभी से जो-जो चीजें, जो दृश्य और फूल वह लाया मेरे लिए अछूत होते गए। उसके साथ रहने से मेरे मन की सौन्दर्य-भावना मरती गई। कुत्तों, फूलों, पहाड़ों और जंगलों से मुझे अनजाने ही चिढ़ हो गई। चाय के बागों के आसपास घूमते-घूमते चाय तक पीने से नफरत होने लगी···अगर कुछ मुझे अच्छा

था तो वे युवक और युवतियां, जिनके मंगोल, तिब्बती और चेहरों में शांति का आभास मिलता था—अपार मानसिक शांति

डाक्टर को वहां के लोग अच्छे नहीं लगते थे और न वे तुनी ड़ियां, जो चायबागानों के पास फुदकती रहती थीं। मैंने हर उस ज से घृणा की जो डाक्टर को अच्छी लगती थी···इसीलिए मेरा मन व गया। दुनिया के दृश्य में मेरा मन नहीं रमता था। हर सुन्दर दृश्य साथ डाक्टर की निकटता का आभास जुड़ा हुआ था। लेकिन उसके रने के बाद मैं मन ही मन सोचती रही और मुझे लगा कि मैं एक पागल को भी प्यार कर सकती हूं, उसके साथ ज़िन्दगी बिता सकती हूं, ऊपरी तौर से जो ममता और करुणा मेरे भीतर की हिंसा और पशुता में छिप गई थी वह भीतर-भीतर और गहरी जड़ें पकड़ रही थी, क्योंकि कायर होने के साथ डाक्टर बेहद ममतामय और करुणा से भरा हुआ था। डाक्टर ने मुझे आंतरिक सामर्थ्य दी, मुझे यह एहसास कराया कि मैं भी कुछ हूं। और मेरे लिए रुपया छोड़कर उसने मुझे परिस्थितियों का सामना करने का साहस दिया। मुझे मेरे पैरों पर खड़ा कर दिया। वह तिरस्कार और हिंसा का शिकार होता रहा···पर उसका मन कितना उजला था, वह साबित कर गया। औरों के साहस मुझे कुचलते रहे, मेरे अहं को चूर-चूर कर खुद जीत की भावना से भरते रहे और मुझे तोड़ते गए, पर डाक्टर की कायरता ने ही मुझे साहस दिया मेरे प्रेम की संकुचित सीमाओं को उसने जबरदस्ती खींचकर फैला दिया मेरी ममता को असीम कर दिया। उसने मेरे पूरे व्यक्तित्व के को कोने को मथकर छान दिया। मेरी सारी वृत्तियां—अच्छी और बु जागकर भयंकर मानसिक द्वंद्व में आबद्ध हो गईं और उनके संघर्ष ने व्यक्तित्व को विराट् बना दिया है। आज मैं उतनी संकुचित न जितनी पहले थी, उतनी निरीह और अपंग नहीं हूं, जैसी पहले थी···

मैं सुनता रहा था और इरा जैसे दूर खड़ी डाक्टर की आत्म श्रद्धांजलि अर्पित कर रही थी। वह पूजा की आग की तरह पवि रही थी। उसका अंग-अंग ममता और करुणा की अनुभूति से

रहा था। लग रहा था जैसे कोई देवदासी तन्मय होकर आराधना में लगी हो। शायद वह यह भी भूल गई थी कि मैं उसके पास बैठा हूं और डाक बंगले में सोलंकी पड़ा है। नीचे देवदार की कत्थई पत्तियों का चिकना गद्दा था और लगता था कि अभी उठते ही वह फिसलेगी।

मैं इरा के व्यक्तित्व से आक्रान्त हो गया था। मन करता था कि उसे सहेजकर रखूं और अब बिखरने न दूं, इसीलिए मैंने उससे पूछा— लेकिन इरा, अब तुम क्या सोचती हो ?

किस बात के बारे में ? उसकी निर्मल आंखों में आश्चर्य भर गया था।

यही, आगे आने वाली जिन्दगी के बारे में, मैंने कहा।

मैं तुम्हारा मतलब नहीं समझी ? उसने फिर पूछा।

तुम शादी क्यों नहीं कर लेती ? क्या नहीं है तुम्हारे पास अपार रूप है, मन की निर्मलता है और ममता भी। कोई भी तुम्हें पाकर सुखी हो सकता है। मैंने कहा।

तुम हमेशा आदर्श और दर्शन बघारते हो। सुख के लिए किस चीज की जरूरत है, यह कोई नहीं जानता। आज जिससे सुख मिलता है, कल वही घोर दुःख का कारण बन जाता है। सुख और दुःख किसीके जीवन में नहीं आते। ये दो रेखाएं हैं जो जीवन के दोनों ओर समानान्तर खिंची हुई हैं। परिस्थितियों और इच्छाओं का बोझ जब जैसा पड़ता है, व्यक्ति खिसककर किसी एक रेखा में अटक जाता है और उसपर फिसलने लगता है। फिर कोई एक बड़ा-सा झटका उस रेखा से दूसरी ओर फेंक देता है…ऐसे ही जीवन चलता है। सुख कामना करने से नहीं मिलता… और मैं किसीको सुखी बना सकती हूं यह भी एक कामना ही है। क्यों, गलत कह रही हूं ? कहते हुए वह एकदम हंस पड़ी और बोली—मैं खुद ही दर्शन बघारने लगी।

लेकिन यदि कोई यह समझता है तो तुम्हें क्या [illegible] है ? मैंने पूछा।

हंसते हुए ही वह बोली, साफ-साफ क्यों नहीं कहते कि तुम मुझसे शादी कर सकते हो।···लेकिन तिलक ! ऐसा मैं नहीं कर सकूंगी··· राज़ व्यक्ति की ज़िन्दगी के सबसे बड़े दुश्मन होते हैं। पिछली ज़िन्दगी बार-बार कुचले हुए सांप-सी पलटा खाती है और डस सकती है। जिसे मैंने सब कुछ बताया है, उससे शादी नहीं कर सकती क्योंकि मैं यह नहीं कह सकती कि तुम मेरी ज़िन्दगी में पहले हो।

कैसी बातें कर रही हो, इरा ?

मैं ठीक ही कह रही हूं। तुम्हारे मन की यह उदारता हमेशा नहीं रहेगी। किसीके पास नहीं रहती। तब रोना पड़ेगा, इससे फायदा ? इरा ने कहा।

मैं कहता हूं···मुझपर विश्वास करो, इरा। हम इतना मानकर चलेंगे कि इस क्षण से पहले के क्षणों पर हमें निगाह नहीं डालनी है। मैंने कहा।

कहने से कुछ नहीं होता। हर मन पवित्रता का भूखा होता है। मेरा मतलब दकियानूसी पवित्रता से नहीं है। मैं उस बोध की बात कर रही हूं जो एकाधिपत्य के आस-पास की चीज़ है। कोई भी इससे इंकार नहीं कर सकता। मैं भी नहीं करूंगी। और अब सब कुछ बता देने के बाद मैं तुम्हारी पत्नी नहीं हो सकती, कतई नहीं हो सकती। बुरा मानने की इसमें कोई बात नहीं है। कहते हुए वह धीरे-धीरे चलने लगी। मैंने इधर-उधर की बात छेड़ दी ताकि वह यह न समझे कि मैं बुरा मान गया हूं।

शाम हम लोग जल्दी ही सो गए थे। सुबह उठकर कोल्हाई जाना था। सुबह सात बजे हम तीनों घोड़ों पर रवाना हुए। घाटी पार करते ही ऊबड़-खाबड़ पत्थरों का रास्ता आ गया, जिसमें पगडण्डी भी नहीं थी। घोड़े बहुत संभल-संभलकर चल रहे थे। नीचे कहीं दरिया के पानी के कुण्ड थे। दरिया हमारी दाहिनी ओर था। रास्ता संकरा हो रहा था। टूटे हुए पत्थरों के पहाड़ बाईं ओर थे और दाहिनी ओर दरिया

के पास देवदारों के पेड़ बन्द छाते की तरह पास-पास उगे हुए थे।

काफी आगे चलकर भोजपत्र का जंगल पड़ा : भोजपत्र की चूने-सी सफेद छाल देखकर इरा चीख पड़ी—चांदी के पेड़ ! जब उसे मालूम हुआ कि यही भोजपत्र है तो बोली—इसके पत्ते तो इतने छोटे-छोटे हैं। इनपर पोथियां कैसे लिखी जाती होंगी।

···आराम करने के लिए हम घोड़ों से उतरकर नीचे चट्टानों पर बैठ गए थे और बहते हुए चश्मे में पैर डुबोए हुए थे। सोलंकी के नथुने चिमनियों की तरह धुआं उगल रहे थे। उसने जेब से चाकू निकाला, भोजपत्र के तने से छाल को चीरकर ले आया—यह है छाल जिसपर पोथियां लिखी जाती थीं ! कागज से भी हलकी है छाल ! और एक-एक में सात-सात परतें हैं। अपने बैग में छाल रखते हुए इरा बोली—सोलंकी, हाथ-पैर धो लो, बड़ा अच्छा पानी है। पर सोलंकी ने जैसे सुना ही नहीं था।

हम लोग कुछ दूर पैदल ही चले। इरा सोलंकी के साथ-साथ आगे चल रही थी। मैं कुछ पीछे था। उनके बीच बतरा की कोई बात चल रही थी, क्योंकि शीला और बतरा दोनों का ही नाम कभी-कभी सुनाई पड़ जाता था। सोलंकी शीला की बुराई भी कर रहा था और यह भी कहते हुए मैंने सुना कि शीला बराबर उसीके पास रह रही है और बतरा की जिन्दगी मुहाल किए हुए है। उसका रुपया पानी की तरह बहाती है और अपने जान-पहचान वालों के साथ अब भी घूमती-फिरती है। शायद उन दोनों ने कोर्ट में शादी कर ली है, पर उसे घोषित नहीं किया है।

···मैं घोड़े वालों के साथ बातें करने लगा। उनका लीडर गफ्फू बोला—साब ! कोल्हाई के ऊपर एक खूबसूरत लेक है। बहुत खूबसूरत लेक है। ऐसा लेक काश्मीर में कहीं भी नहीं है···

कितना ऊपर है ? मैंने पूछा।

थोड़ा ऊपर है। कोल्हाई पर उतरने का रास्ता भी उधर लेक से है···अगर साब लोग चाहेगा तो ले चलेंगा। बहुत खूबसूरत लेक है।

दूध का माफिक पानी है।

बीच में सतलंजन का मैदान बिलकुल उलटे त्रिकोण की तरह पड़ा था। उसमें नाले सीधे गिरते थे, जिनमें किसी भी क्षण एकाएक पानी बढ़ जाने की आशंका रहती थी। एक गहरे नाले पर देवदार के तने का पुल बना हुआ था। तना काटकर ोगों ने पत्थरों से सिरे दबाकर यह पुल बनाया हुआ था। पानी के ज़ोर से वह कांपता था और मेंढक की तरह फुदक-फुदककर ही उसे पार किया जा सकता था।

इरा घोड़े पर बैठ गई। वह तने पर से निकलने को तैयार नहीं थी। अपनी बहादुरी दिखाने के लिए सोलंकी ने तने को खड़े होकर चलते हुए पार किया और इरा के घोड़े की रासें थामे रहा। उस पार पहुंचकर सोलंकी ने इरा को कमर से पकड़कर गुड़िया की तरह उतार लिया था।

फिर पतली और पथरीली घाटियों में होते हुए हम एक ऐसी जगह पहुंच गए, जहां से कोई रास्ता दिखाई नहीं पड़ता था। तीनों तरफ के पहाड़ सिमसिम के दरवाज़े की तरह बन्द थे। हम लोग रुक गए। ममदू ने आगे बढ़कर बताया—इधर दाहिनी तरफ दर्रा है···इसी दर्रा में दो मील दूर पर कोल्हाई ग्लेशियर है। उधर पास तक कोई भी नहीं जा सकता। इधर मोड़ पर मुड़ते ही बरफ की नदी दिखाई पड़ेगा।···

चारों ओर सन्नाटा था। एक चिड़िया तक वहां नहीं थी। तीन तरफ नीले-नीले पहाड़ खड़े थे। ऊपर साफ आसमान था। घड़ी देखी तो साढ़े ग्यारह बज चुके थे। हम तीनों ही खामोश थे। वीरान सौन्दर्य चारों ओर बिखरा हुआ था···नदी की धार उथली थी, पर बहुत तेज़। जंगल पीछे छूट गए थे। घास और नन्ही-नन्ही झाड़ियों के सिवा और कुछ भी वहां नहीं था।

सौन्दर्य जब खुलता है तो आदमी मूक हो जाता है। तीनों ही उस उजाड़ सौन्दर्य को फटी-फटी आंखों से देख रहे थे। हलकी हरी और सिलेटी चट्टानों के पहाड़ संन्यासियों की तरह चुपचाप खड़े थे। उस खामोशी को मैंने भंग किया—ममदू कह रहा है कि कोल्हाई के ऊपर

एक बहुत खूबसूरत झील है—दूघसर ! अगर चलने का इरादा हो तो बताइए।

सोलंकी अपनी हिम्मत से ज्यादा आगे बढ़कर बोला, जरूर चलना चाहिए। क्यों इरा ?

इरा ने भी सहमति दे दी। कुछ दूर हम लोग घोड़ों पर गए, और दाहिनी ओर मुड़ते ही एक खुला हुआ मैदान आ गया। तिलिस्म की तरह यह सब खुलता जा रहा था—दूर पर कोल्हाई ग्लेशियर गाय की बेहद चौड़ी जीभ की तरह जमीन पर पसरा हुआ था और उस जीभ से राल की तरह पानी टपक रहा था···नीचे गहरी बरफीली झील दिखाई दे रही थी। उसी झील से बरफीला पानी पचास-साठ छोटी-बड़ी धाराओं में बहता हुआ आ रहा था। यह नदी का उद्गम था। आगे चलकर ये छोटी-बड़ी धाराएं एक हो गई थीं···कल-कल करती धाराएं बह रही थीं। हम दलवा पहाड़ों पर बाईं ओर खड़े थे। ग्लेशियर पर धूप सतरंगे रंगों में चमक रही थी और बरफ की ऊंची-नीची नुकीली चट्टानें श्वेत मुकुट-सी झिलमिला रही थीं। रोशनी की आभा उनपर पड़कर लौट रही थी और घाटी के सामने वाले पहाड़ चकाचौंध हो रहे थे।

इरा बेसुध-सी खड़ी थी। सोलंकी अपने नाखून कुतर रहा था। कुछ आगे बढ़कर उसने इरा के कंधे पर हाथ रख लिया और स्वयं भी बेसुध होकर खेलने का अभिनय करने लगा। मेरा मन उस अपार सौंदर्य के सामने अपने-आप निर्मल होता जा रहा था···इरा की शारीरिक मोहकता महज एक मुलम्मा लग रही थी। कण-कण में सुन्दरता बिखरी हुई थी···ऐसे में दैहिक रिश्ते बड़े ही नगण्य और ओछे लग रहे थे। इरा की वह सारी खूबसूरती, जिसकी आग में मैं जल रहा था, इस क्षण इतनी बनावटी और बेकार लग रही थी कि मन क्षोभ से भर जाता था।

उस विशाल और विराट् सौन्दर्य-राशि के सामने कुछ भी नहीं टिक सकता था। मन ऊंचाइयों की ओर जाता था। तभी ममदू ने कहा—अगर दूघसर जाना है तो अभी चलना होगा। हम ऊपर से आप लोग को

ल वरफ का दरिया पर उतारेगा···विजिटर लोग वरफ का दरिया
सी जगह से देखता। आगे दलदल भी होने सकता।
सोलंकी ने कैमरा खोल लिया था और वह इरा को इधर-उधर
-विठाकर फोटो खींच रहा था। इरा मदमाती-सी देख रही थी।
इरा को देखा—कल वाली इरा यह नहीं थी। मैं आश्चर्य और
मंजस से भर गया। कैसी है यह लड़की! इसका कौन-सा रूप सही
! घाटी में मेरी बांहों में वेसुध होकर अपनी गाथा सुनानेवाली इरा
ही थी या यह जो सोलंकी के इशारों पर सोलह वरस की लड़की की
रह चाव से फोटो खिचवा रही है!

मैं सह नहीं पाया। मौका पाते ही मैंने उसे पकड़ा और कहा, तुम
अजीव हो···शरम भी नहीं आती।

इरा चकित-सी मेरी ओर देखती रह गई, उसकी आंखों में चौवीस
घण्टे पहले की कोई पहचान नहीं थी। वह अपने को शायद वेहद दावते
हुए वोली, मैं ऐसी वातें सुनने की आदी नहीं हूं।

···और आश्चर्य तव और भी हुआ जव वह मुस्कुरा दी और
ली—मैं चाहती हूं, इस सौन्दर्य से ज्यादा मुझे चाहो। समझे! यह
कृति का सारा सौन्दर्य कुछ पलों का है···इसे देखकर या इसके सहारे
ज़न्दगी नहीं कट सकती···सौन्दर्य वह वड़ा है जो जीवन को साथ ले
ले। समझे! कहकर वह सोलंकी की ओर चली गई।

ममदू ने फिर कहा—दूधसर चलना है?

इरा एकदम वोल पड़ी—हां-हां, चलना है।

तव आइए, घोड़ा इधर ही छोड़ेंगे, पैदल का रास्ता है।

सवसे पहले हमें साठ धाराएं पार करनी थीं। चौथी और सव
चौड़ी धारा पर लकड़ी के लट्ठे रखे थे। इरा को सोलंकी ही सहारा
रहा था और वह उसीके साथ हाथ पकड़े-पकड़े वढ़ रही थी। धा
काफी खतरनाक थीं। ज़रा-सी चूक से जान जा सकती थी···हम
हुए आदमी को देख सकते थे, पर निकाल नहीं सकते थे।

दाहिने पहाड़ के चरणों में पहुंचते-पहुंचते एक घण्टा और हो
था। इरा और सोलंकी साथ-साथ जा रहे थे कि तभी एक चीख

तेज आवाज में पथरीली घाटी गूंज उठी। इरा ने चीखकर सोलंकी के सीने में मुंह छिपा लिया। सोलंकी उसे पक्षी की तरह दबाए चारों तरफ तेज नजरों से ताक रहा था। ममदू बोला—मामर चीखता है, इसका आवाज बहुत तेज होता, पर आदमी लोग को नुकसान नहीं पहुंचाता।

सोलंकी ने जेब में ब्रांडी की बोतल निकाली और गट-गटकर चार घूंट चढ़ाकर ओंठ चूमने लगा।

हम बढ़ते ही जाते थे, एक के बाद एक पहाड़ी की श्रृंखला आती जाती थी, पर चढ़ाई खत्म नहीं होती थी···तभी दो पहाड़ियों के बीच फूलों की घाटी पड़ी···प्रकृति का उन्मुक्त, आवरणहीन सौंदर्य बिखरा पड़ा था। हजारों तरह के फूल थे और हजारों ही रंग! थकान काफी हो चली थी। घाटी की हवा नशीली थी। मैं एक पहाड़ी की आड़ में थाक लगाकर आराम करने लगा। दो मिनट बाद पथरीली पर फूलों से भरी घाटी को आंख-भर देखना चाहा तो देखा—इरा सोलंकी के सीने पर सर रखे आंखें बन्द किये टिकी हुई है, सोलंकी उसके जूड़े में वन-घासों के फूल लगा रहा है और हसरत-भरी निगाहों से उसे देख रहा है।

कुदरती खूबसूरती के उस हसीन सैलाब में उन्हें यों देखकर मेरा मन घुटने लगा। वे दोनों ही मुझे वासना में लिप्त गंदे कीड़ों की तरह लगे और इरा का खड़ा किया हुआ सारा तिलिस्म टूट गया। मैं अकेला ही आगे बढ़ने लगा। कुछ देर बाद सोलंकी की भारी आवाज सुनाई दी। वह कुछ गा रहा था—ओ···ओ···लव मी टेंडर···ओ···ओ

मैंने रुककर देखा, इरा थकान से चूर थी और सोलंकी उसे छेड़ रहा था।

घड़ी चार बजा रही थी। पहाड़ियों की शृंखला खत्म नहीं हो रही थी। अजीब-सी झुंझलाहट हो रही थी। मैंने ममदू से कड़ी आवाज में पूछा—किधर है दूधमर?

बस, इस पहाड़ी के उस पार! वह बोला और आगे-आगे चलने लगा। उसकी पीठ पर कुछ सामान बंधा हुआ था, इसलिए वह ऊंट की तरह मटक-मटककर चल रहा था। वह पहाड़ी भी पार

का कहीं कोई पता नहीं था। चारों ओर पहाड़ियां ही पहाड़ियां
—नंगी चट्टानों की पहाड़ियां, जिनकी कोख में घास उगी हुई थी।
रों तरफ पत्थर ही पत्थर—बहुत नीचे साठ धाराओं वाली घाटी
ले हुए नक्शे की तरह लग रही थी। सभी थकान से चूर थे। लेकिन
लने के अलावा अब कोई चारा नहीं था। ममदू बार-बार कह रहा था
धर से रास्ता छोटा पड़ेगा वापसी में···आप फिकर काहे को करता।

आखिर हम और चले···तीन श्रेणियां पार करके जब नीचे देखा
तो बर्फ से ढके पहाड़ों के बीच में नगीने की तरह जड़ी हुई थी—
दूधसर झील! पानी दूध की तरह निर्मल था···अजीब-सी शाश्वत
शांति छायी हुई थी। निर्जन और निविड़ एकांत था···उसके शांत
पानी पर बर्फीले पहाड़ों की दूधिया छाया पड़ रही थी और बर्फ के पेड़
जैसे उसमें लगे हुए थे, जो बहुत धीरे-धीरे तैर रहे थे। उन बर्फ के पेड़ों
की शाखाएं शीशे की तरह चमक रही थीं। डबडबाई शांत आंख की
तरह का आकार था दूधसर का।

सांप की आंख जैसा सम्मोहन था उसमें। मैं चुपचाप उतर गया।
मेरे उतरते ही झील पर बादल छा गए और मैं बादलों के नीचे
आंख बन्द किये बैठा रहा। उस सौन्दर्य को देखकर आदमी अंधा हो
सकता था। दूधसर के पानी की एक अंजलि भरी मैंने, और पी गया
यही प्रसाद था उसका। सुन्दरता स्थान नहीं देखती। जहां वह अपने को
अनावृत कर देती है वहीं उसकी किरणें बिखरने लगती हैं। इरा भी
सोलंकी भी नीचे आ गए थे। इरा ने हाथ डाला तो चौंक पड़ी—इत
ठंडा पानी।

सोलंकी दूर पर ही खड़ा रहा।

···मेरी आत्मा उस दृश्य से भर आई थी। झील के दूधिया
में बर्फ के श्वेतपंखी हंस जैसे धीरे-धीरे तैर रहे थे और जमी हुई
की छाया चांदी की चादर की तरह उसके तल की गहराइयों तक
रही थी। बड़ी शांति थी वहां। सारी थकान उतर गई थी।

ऊपर आते-आते शाम के छः बज चुके थे। हम लोग ममदू के

पीछे ग्लेशियर के रास्ते की ओर बढे और हम लोगों के हाथों के तोते उड गए, जब ममदू ने डेढ घंटा परेशान होने के बाद कहा—रास्ता नही मिलता।

सबके चेहरो पर हवाइयां उड़ने लगी थी। नंगे पहाड़ों की गोद में रुक सकना संभव नही था। हमारे पास कपडे भी नही थे और जिस रास्ते आए थे, उसी रास्ते वापस जाने मे रात हो जाती। तब उन पतली-चौड़ी तेज रफ्तार बहती आठ धाराओ को पार करना मौत से जूझना था। इसी परेशानी मे आठ बज गए। पश्चिमी पहाड़ों पर रात ज़रा देर से आती है पर आठ बजते-बजते अंधेरा घिरने लगा था और हम लोगो को कोल्हाई ग्लेशियर पर उतरने का रास्ता नही मिल रहा था। मामर चीखता तो पूरी घाटी दरकने लगती। सर्द हवा चलने लगी थी।

लेकिन ऊपर से कोल्हाई ग्लेशियर का दृश्य अद्भुत था—नीचे धरती पर हजारों साल की जमी हुई काली बर्फ थी और उसके ऊपर केक की शक्कर—जैसे साफ बर्फ के बेतरतीब और मुह बाए हुए जबडे खड़े हुए थे। जैसे पानी पडने से चूना खिल जाता है उसी तरह वे बर्फ-जबडे खिले हुए थे। और उनपर सर्द कोहरा धुए की तरह लिपटा हुआ था। जहा तक दृष्टि जाती थी, खिली हुई बर्फ की परतें थी। निपट सुनसान था। खामोशी छायी हुई थी। तीर की तरह हवा चल रही थी, पर रास्ता न मिलने मे हम लोग परेशान थे और भीतर-भीतर डर समाता जा रहा था। प्रकृति जैसे सांस रोके पडी थी।

ग्लेशियर के दोनों ओर पहाड़ थे—एक सामने था, एक पर हम थे··· बीचो-बीच यह विशाल सफेद अजगर तीन सौ फुट की नीचाई पर पडा बर्फीली सांसें छोड रहा था। हमारा पहाड टूटे पत्थरों का पहाड था। टूटी हुई चट्टानें बेतरतीबी से एक दूसरे पर टिकी हुई थी। तेज हवा से कोई एक चट्टान सरकती तो अपने साथ बहुत-सी चट्टानो को लेती धड़-धड़ाती हुई गिरती थी···ग्लेशियर की घाटी खौफनाक आवाजों से भर जाती थी और दिल बैठने लगता था। पहाड़ की चोटी से दस-बारह फुट नीचे तक बजरी थी···बजरी के बाद टूटी हुई चट्टानें आती थी।

नही मिल रहा था, बजरी से नीचे फिसल जाने का डर भी था, अ

टूटी चट्टानों से उतरना मौत के मुंह में जाना था।

ममदू पागल कुत्ते की तरह रास्ता खोज रहा था।

मैं हारकर एक जगह बैठ गया···आसमान से काला पक्षी पंख फैलाए उतर रहा था।···उसके पंखों का दवाब और अंधेरा हर क्षण बढ़ता जा रहा था। इरा दूर पर दिखाई दे रही थी। सोलंकी भी रास्ता खोजने में लगा हुआ था···कि मैं अपने को संभाल नहीं पाया और बजरी से नीचे फिसल गया। जांघें छिल गई थीं, पर फिसलकर मैं बारह फुट नीचे जमी हुई विशाल चौरस चट्टान पर आ गिरा था। अगर वह चट्टान बड़ी न होती तो शायद मेरी हड्डियां भी न मिलतीं। मौत का पहला झटका मुझे लगा था। सारा बदन सनसना गया था। अब मेरे पास नीचे उतरने के सिवा कोई चारा नहीं था···बजरी से ऊपर नहीं चढ़ा जा सकता था। नीचे टूटी हुई चट्टानें थीं···मैंने हिम्मत करके नीचे उतरना शुरू किया···यह जानते हुए कि कोई भी क्षण मेरी मौत का क्षण हो सकता है। पर चारा भी क्या था। हवाएं विषैले तीरों की तरह सनसना रही थीं और मैं उस ठंडे कुएं में उतरता जा रहा था। चट्टानों का एक रेला कहीं दूर पर धड़धड़ाकर गिरा—मैं सांस रोककर बीच में खड़ा हो गया।

आखिर हथेली पर जान लिए मैं ग्लेशियर की तराई में पहुंच गया। सड़ी हुई घास वहां महक रही थी और अजगर की खाल की तरह गंदी चिकनी काई चट्टानों पर चकत्तों की तरह चिपकी हुई थी।

मैंने ऊपर देखा···इरा, सोलंकी और ममदू कहीं भी नजर नहीं आ रहे थे। शायद वे लौट न गए हों···यह विचार आते ही मेरे रोंगटे खड़े हो गए। अभी तो ग्लेशियर पार करना था·· उन बर्फीले जबड़ों में से जाना था। तब उस पार जाकर कहीं रास्ता मिलेगा। भय से मेरा शरीर ठंडा पड़ता जा रहा था। उस बर्फीली निर्जन घाटी में कोई भी नहीं था। मेरे सिवा। और वह अजगर सर्द हवाओं की सांसें छोड़ रहा था। बर्फ पर से गुज़रती हवा में एक अजीब-सी गूंज होती है और सूखापन। मेरा आधा धड़ सुन्न पड़ गया, लगा उसमें जान नहीं है। चाकू निकालकर मैंने काली चट्टान को खोदा तो बर्फ की चीपें उतर आईं···वे सदियों से

जमी बर्फ की चट्टानें थीं, जिस पर मैं खड़ा था। जेब से ब्रांडी की शीशी निकालकर मैं चार-छः घूंट पी गया तब कहीं जान में जान आई···सीने मे ब्रांडी की शमशीर चलती रही।

प्रकृति की रौद्र सुन्दरता मेरे सामने थी। मैं नितान्त हीन कीड़े की तरह खड़ा था, आखिर मैंने आवाज लगाई—इरा···! सोलंकी···! घाटी गूंज उठी· ·बर्फ की गुफाओं पर टकरा-टकराकर आवाज लौटती रही—सभी आवाज आई—तिलक···! और मैंने देखा—कुछ धब्बे-से ऊपर पहाड़ पर रेंग रहे हैं। मैंने रूमाल जलाकर हिलाया ताकि वे जान जाएं कि मैं नीचे पहुच चुका हू। ग्लेशियर अकेले पार नही किया जा सकता था। मैं सरदी मे अकड़कर मरने को तैयार था। नाक से पानी आ रहा था, सर्दी के मारे नाक का सिरा और कान जैसे उड़ गए थे।

जलता रूमाल देखकर उन्होंने आवाज लगाई—आ रहे हैं···!

घुमड़ती हुई आवाज पछाड़ें खाती रही। मैं चुपचाप खड़ा हो गया। कुछ दूर पर बर्फ की झील थी जिसमें ग्लेशियर का पानी टपक रहा था। किनारों की घुली हुई बर्फ पन्नी की तरह चमक रही थी। उस झील की चमकदार बर्फीली दीवारों से रोशनी फूट रही थी, जिनसे आसपास की जगह चमक रही थी। हिम-हंस झील में शालीनता से तैर रहे थे। ग्लेशियर के जबड़ों से भयानक सांसें आ रही थीं···बर्फ की झील के किनारे रुके हुए मोम की तरह बेतरतीब थे···चारों ओर बर्फ का साम्राज्य था। काली और गंदी बर्फ की चट्टानों के बीच वह छोटी-सी झील शीशमहल की तरह जगमगा रही थी ··हिम-जल का शीशमहल! शायद इसीके नीचे हसीन परियों का महल होगा और हिम-हस जैसे उनकी रखवाली कर रहे होंगे! सौंदर्य की अनुभूति होते ही भय भी बिखरने लगता है···शरीर में अजीब-सी ताजगी और स्फूर्ति आ गई थी, पर पीछे पलटकर देखने से डर लगता था। फटे हुए चूने-से खुले हुए बर्फीले जबड़े निगलने को तैयार थे। और उन बर्फ के खभों के बीच से गुजरती हवा सायं-सायं कर रही थी। आशंका और साहस···दोनों ही मन मे थे, पर भीतर कहीं बेरहम मौत का पंजा कसता जा रहा था।

पीछे कुछ आहट हुई और एक क्षण में ही प्रकृति भयानक ओर से

ई। आवाज़ से भी दृष्टि बेकाबू हो जाती है, बेकार हो जाती
शाल शिला-खण्डों का पथरीला झरना ग्लेशियर पर गिरने लगा
इरा की चीख-भर मैंने सुनी, फिर सब कुछ उस भयानक आवाज़
डूब गया। कुछ ही क्षणों में सब शांत हो गया। और हांफते हुए
ंकी, ममदू और इरा मुर्दों की तरह मेरे पास आकर लुढ़क गए। इरा
बाल बिखर गए थे और चेहरे पर सफेदी छायी हुई थी। शीशी की
वी हुई ब्रांडी मैंने तीनों को दी, तो थरथराते हुए हाथों से इरा ने मुझे
कड़ लिया—मैं मर जाऊंगी तिलक, मैं मर जाऊंगी···सोलंकी का दम
उखड़ रहा था और उसके नथुने धौंकनी की तरह फूल रहे थे, कनपटियां
तमक रही थीं। सभीके कपड़े जगह-जगह से फट गए थे। ममदू बहुत
लाचार-सा बैठा था। वह धीरे से बोला—साहबा···होश कर, हिम्मत
कर···यहां से चलना होगा, नहीं तो मर जाएगा साब।

मार तो तूने डाला ही है! इरा बोली तो सोलंकी ने कहा, अब
बाकी क्या है?

रात के साढ़े नौ बजे थे। और हमें अभी ग्लेशियर पार करना था।
दियासलाइयां, सिगरेटें और दो टार्चें हमारे पास थे, उन्हींका सहारा
। आखिर हिम्मत करके हम उठे और ग्लेशियर पार करने लगे। मूं
जूते ममदू ने हमारे जूतों पर चढ़ा दिए थे···और नुकीली लाठियों क
अहमियत अब समझ में आ रही थी। एक-एक कदम नाप-तोलकर र
जा रहा था, कि ग्लेशियर की तीन नदियां सामने आ गईं। बर्फ
नदियां···जो घूमती-घामती आगे चलकर बर्फीली गुफाओं में च
काटती हुई नीचे ही नीचे झील तक जाती थीं। दो को हमने पार किय
तीसरी नदी चौड़ी थी। और मुंह खोले बर्फ की गुफा ऐसे जगमग
थी, जैसे भीतर गैस के हण्डे जल रहे हों। भीतर भरी हुई हव
मैक्स की तरह आवाज़ कर रही थी। उस नदी के शीशे जैसे चि
पर पैर नहीं रखा जा सकता था, अगर फिसले तो कोई सत
था···और ढाल पर सरककर उस सर्द अजगर की गुफा-से मुंह
सकते थे, जिसके भीतर सर्प-मणि-सी रोशनी जगमगा रही थी
पानी में पैर भी नहीं डाला जा सकता था, और कूद कर

खतरे से खाली नही था। बर्फ की गुफाओ में जब हवा फंसकर अकुलाती थी तो सीटियां-सी बजती थी और हर क्षण विस्फोट का डर-सा लगता था।

ममदू ने हिम्मत करके, हम लोगों के हाथ पकड़कर सधते हुए उस चौड़ी नाली के तल में पैर डाला और धंसाता गया। जब पैर बर्फ में धंस गया तो उसने सहारा देकर हम तीनों को पार करा दिया। बेहद सर्द हवा बह रही थी और निर्जनता में गूंजती अजीब डरावनी आवाजें दिल को कंपा जाती थीं।

सोलंकी बेखबर-सा होता जा रहा था। उसकी आंखों में भय और मौत की परछाईं नाच रही थी। सबके शरीर बेतरह टूटे हुए थे। संभल-संभलकर चलते हुए सोलंकी ने ममदू की पीठ पर बंधे सामान से टार्च निकाली और बड़े ही भेद-भरे स्वर में बोला—यहां जरा नजर रखना··· बहुत कीमती पत्थर ऐसी जगहों पर मिलते हैं।

और सोलंकी टार्च जलाकर, मौत और मुसीबत से बेखबर होकर कीमती पत्थरों को झुक-झुककर खोजने लगा। मौत के साये में चलते हुए भी सोलंकी की इस हरकत पर मुझे हंसी आ गई थी···

मैं सच कह रहा हूं! उसकी आवाज में गरमी और आंखों में चमक थी। झुककर उसने एक रोड़ी उठाई और जेब में डालते हुए बोला—यह सदियों की जमी हुई बर्फ है, दबाव से ऐसी जगहों पर ही हीरे बनते हैं। वह चौंक-चौंककर इधर-उधर देखता और पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़ों को उठाकर चेस्टर की जेब में डाल लेता।

यह मौत की घाटी थी···जहां हम तीनों—मैं, इरा और ममदू—के जिंदा गोश्त के टुकड़े बिखरे हुए थे···अंधेरे का उकाब अपने पर फैलाकर उतर चुका था···बर्फीली सांसें सांपों की तरह फुकार रही थीं और सिन्दबाद की तरह सोलंकी हीरे बीनने में लगा हुआ था···।

अपना और कपड़ों का बोझ उठाना मुश्किल हुआ जा रहा था, पर वह जेबों में पत्थर भर रहा था। आखिर धीरे-धीरे जब उसकी टार्च ने जवाब दे दिया तो वह हमारे साथ आया। थके होने पर भी उसकी

भावनाओं में चढ़ाव था। ग्लेशियर हमने पार कर लिया था, पर किनारे का दलदल अभी बाकी था। बर्फ के दलदल में हमारे पैर दो-दो मन के हो गए थे। इरा की हिम्मत जवाब दे चुकी थी। दलदल पार कर हम सुस्ताने लगे। होने वाली खामोश मौत की बर्फीली वादी से हम ज़रूर निकल आए थे पर अंधेरी घाटी और जंगली जानवरों का डर अभी बाकी था।

कुछ देर रुककर जब हम दो मील आगे खड़े घोड़ों की तरफ चले तो करीब एक घंटा और बीत चुका था। सोलंकी इरा को सहारा दिए हुए चल रहा था और बहुमूल्य पत्थरों की बात कर रहा था—नदियों के तल में भी हीरे बहकर आ जाते हैं पत्थरों के साथ। हीरे की ज़मीन बजरी जैसी होती है, उसी बजरी में कोई बेशकीमती टुकड़ा निकल आता है। हीरा ज़मीन से बहुत नीचे नहीं होता…कहीं-कहीं होता भी है, पर ज़्यादातर फुट-दो फुट नीचे ही मिलता है…इरा हां-हूं करती जा रही थी और अपना हाथ उसके कंधे पर रखे हुए चल रही थी। वह कहता जा रहा था—हीरे कई रंग के होते हैं—सफेद, हरे और नीले।

पर मैं जान रहा था कि इरा मन से नहीं सुन रही थी, सोलंकी की सनक पर मुझे बार-बार हंसी आ रही थी।

आखिर हम घोड़े वालों के पास पहुंच गए। वे घबराए हुए थे और समझ रहे थे कि हम लोग खत्म हो गए। गनीमत यह थी कि वे लौटे नहीं थे। ममदू बहुत शर्मिंदा था। सोलंकी अब उसे खुलकर गालियां दे रहा था। घोड़े पर बैठकर उसने शीशी निकाली और जाम लेते हुए इच्छा प्रकट की—खूबसूरत इरा और खौफनाक बर्फीली वादी के नाम। और खाली शीशी उसने वहीं पटक दी और अपने घोड़े पर बैठकर आगे चल दिया।

मौत की वादी दूर छूटती जा रही थी। साठ धाराओं का मैदान बाईं तरफ फैला हुआ था। हम साढ़े ग्यारह बजे रात को वहां से रवाना हुए थे। खतरनाक सतलंजन के नाले पार करके हम भोजपत्र के जंगल

में रास्ता भटक गए। सब दियासलाइयां खत्म हो चुकी थीं, टार्च हीरे बीनने में जाया हो चुकी थी और ऊपर घुप अंधेरा था। आसमान में मंडराते हुए बादल शोर कर रहे थे।

पत्थरों के ऊबड़-खाबड़ खण्डों के नीचे कहीं-कहीं नदी के पानी के कुण्ड थे, जिनमें कोई भी ज़रा-सा बेख़बर होकर गिर सकता था। कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था, जंगल की सांय-सांय डरा रही थी। बारिश के छींटे पड़ने लगे थे। घोड़े वाले पीछे आते हुए दड़बड़ा रहे थे। अकेला ममदू उस घुप अंधेरे में आवाज़ के सहारे हमें ले चल रहा था···उसकी आवाज़ आती थी—हिम्मत कर साहबा! होश कर साहबा! संभल के साहबा!

वह आवाज़ हमें खींच रही थी, हमारी ज़िन्दा लाशें उससे बंधी हुई थीं, कहीं कोई रोशनी नहीं···कोई पगडण्डी या रास्ता नहीं, कोई सहारा नहीं···बस ममदू की आवाज़ गूंजती थी···

थकी हुई इरा ने न जाने किससे उस अंधेरे में कहा था—जब अंधेरा होता है तब किसीकी आवाज़ ही सहारा होती है।

डाक बंगले में पिछली शाम कुछ सैलानी और आ चुके थे। चौकीदार ने समझ लिया था कि हम ख़त्म हो गए। अंधेरे में चलते-चलते हम रोशनी की एक किरन के लिए तरस रहे थे, पैर लस्त थे और आंखों के सामने अंधेरा छा रहा था।

आख़िर दूर पर एक मशाल जलती दिखाई दी···पैरों में जैसे जान आ गई, और जब हम मशाल के पास पहुंचने लगे तो डाक बंगले का आकार साफ़ हो गया।

चौकीदार बरामदे में ही सो रहा था, आहट से उठ बैठा और बोला—ख़ुदा का शुक्र है, मशाल लेकर हम लोग रात एक बजे के करीब जंगल तक गए, पर आप लोगों का कोई पता नहीं था। हम समझा ख़तरा हो गया, फिर हमने मशाल डाक बंगले के कोने से बांध दिया···

मैंने घड़ी देखी, सुबह के पांच बज रहे थे। सोलंकी और इरा ज़मीन

विस्तर फैलाकर नीचे ले… थे। उस दिन हम लोग शाम तक
…ौर जागते रहे, पर उठा कोई भी नहीं।

…शाम के सात वजे उठकर इरा ने व्रुश किया। मैं भी उठ गया, पर
…की औंधा लेटा हुआ था। उसने सिर्फ वूट उतारे थे। ओवरकोट
…े हुए वह लाश की तरह पड़ा था। कीमती पत्थर उसकी जेवों में भरे
… थे। शाम को पानी नहीं मिल पाया, इसलिए सुस्ती नहीं उतरी
…। एक-एक प्याला काफी पीकर हम फिर लेट गए। रात नौ वजे के
…रीव सोलंकी उठा। उसने अपने सूटकेस से व्हिस्की का एक अद्धा
निकाला और पानी के साथ आधा पीकर फिर सो गया।

दूसरी सुवह जव हम तीनों उठे, तो सर वहुत भारी था, पर थकान
कुछ-कुछ उतर चुकी थी। ज्यादा सोने का वुखार-सा चढ़ा हुआ था।

मेरा सर फटा जा रहा है, सोलंकी ने कहा।

जल्दी से नहा लो, आराम मिलेगा। इरा ने उससे कहा।

इरा की वात सुनकर जैसे उसके मुंह का जायका विगड़ गया—आप
लोग नहाइए।

क्यों, तुम नहीं नहाओगे? इरा ने पूछा।

नहीं, सोलंकी ने दो टूक जवाव दिया। इरा आश्चर्य से उसकी
ओर देखती रह गई। चौकीदार ने पानी गरम कर दिया था। एक वा…
फिर इरा ने कहा—पानी गरम है, सोलंकी!

नहीं, मैं नहीं नहाऊंगा, मुझे ज़रूरत नहीं है।

आखिर इरा नहाने चली गई। जव तक हम दोनों ने नहा…
सोलंकी ग्लेशियर से वीने हुए पत्थर के टुकड़ों को देखता-परखता र…
कुछ उसने फेंक दिये और कुछ सूटकेस में डाल लिए। उसने सिर्फ…
वदले, वदन पर खूव पाउडर छिड़का और पाइप सुलगाकर चा…
इंतज़ार करने लगा। वह दिन भी धीरे-धीरे वीत गया।

मैं इरा से कोई खास वात करने के मूड में नहीं था। उसक…
हार मेरी समझ में नहीं आता। पर वह शाम को ज़वरदस्ती मे…
…ने गई और तरह-तरह की वातें करती रही। डाक्टर के…

वाद उसने फिर क्या-क्या किया और ज़िन्दगी में कहां-कहां ठोकरें खाईं और कैसे फिर वह वापस अपनी सहेली दमयंती के पास नागपुर लौट गई थी। बम्बई जाने का ख़याल भी उसे आया था, क्योंकि विमल की धुंधली-सी याद अब भी बाकी थी।

तीन साल का यह अरसा उसे बहुत कुछ देकर गया था। किसी स्कूल में उसने मास्टरी की थी, किसी फर्म में रिसेप्शनिस्ट की तरह काम किया था और कुछ दिनों साबुन और अन्य शृंगार-सामग्रियों के निर्माता की कम्पनी में सेल्स गर्ल का काम भी किया था। इरा ने कहा—तिलक, मैंने लिपस्टिक लगाना छोड़ दिया था, पर ये नौकरियां करते हुए मुझे स्मार्ट बनने की हमेशा सलाह मिलती रही। स्मार्ट बनने का मतलब होता है कि अपने को दूसरों की नजरों में चुभो दो। और अपने शरीर और रूप के सहारे बेजान चीज़ों को बेचो।

कहीं भी मैं टिकने न पाई, क्योंकि हर जगह एक ही मांग थी—अपने को बांटो।···तुम एक चीज़ हो···तुम्हारा रूप और यौवन ही तुम्हारी सम्पत्ति है, जब मैं बाहर निकलती तो लोगों की नज़रें देखकर मुझे एक ही अनुभूति होती थी—वही अनुभूति, जैसे डाक्टर के साथ रहते हुए मुझे लगता था कि तमाम पिल्ले मेरे शरीर से चिपक गए हैं··· उसी तरह वे तेज़ और वहशी नज़रें मेरे बदन से चिपकी रहने लगीं। रात-रात-भर मैं सो नहीं पाती थी··

अल्पसंख्यक जाति की तरह मेरी दशा थी· कब कौन क्या कर बैठेगा, यह भय मुझे हमेशा सताता रहता था। चारों ओर कुण्ठित और प्यासे लोग घूमते थे। कतरा-कतराकर चलते हुए दो मील का फासला चार मील बन जाता था और कुछ ऐसे रास्ते थे, जिनपर मैं कतई नहीं जा सकती थी। मुझे ऐसा कोई भी नहीं मिला जो आधे घंटे बैठकर दोस्त की तरह बात कर पाया हो। हर आदमी बदलने लगता था, हर आदमी मुझसे कुछ चाहने लगता था। [illegible] घबराकर मैं काश्मीर [illegible] हूं। सब कुछ छोड़-छाड़कर। आदमी ने इतना सताया

है कि उसके बगैर हमारा रहना मुश्किल है। वह साया भी अंध-
का है। प्यार और लगाव तो बहुत छोटी चीज़ें हैं—क्षणजीवी, जो
बुलों की तरह उठती हैं और फूट जाती हैं, मिलती हैं और खो जाती
। पर इस उलझी हुई ज़िन्दगी में चैन नहीं मिलता, नस-नस फूटने
गती है···लगता है, मैं पागल हो जाऊंगी—लेकिन फिर बात वहीं आ
ाती है···आदमी से भागना भी चाहती हूं और उसीके पास रहना भी
ाहती हूं। शिकायतें भी उसीसे हैं और प्यार भी उसीसे है। मैं आखिर
या करूं···

तीसरे दिन सुबह हम लोग वापस चल पड़े। मैं अपने में डूबा हुआ था। सोलंकी इरा के साथ-साथ घोड़े पर चल रहा था। मैं कभी नज़दीक आ जाता तो उसके पास से भभक-सी उठती थी और उसका रेगमाली चेहरा सूजा-सूजा लगता था। पर इरा थी कि वह लगातार उस से बातें करती आ रही थी।

आड़ू के डाक बंगले में पहुंचकर हमने कुछ देर आराम किया। वहीं इरा का मन बदल गया। वह कहने लगी—मेरा बिस्तर यहीं उतरवा दो। मैं कुछ दिन अकेली यहीं रहूंगी।

वहां कोई ठहरता नहीं था। दो कमरों का नन्हा-सा काटेज थ
आड़ू में, पहलगाम से वह इतना पास था कि वहां ठहरने के लिए लो
कम ही आते थे। कोई खास खूबसूरत जगह भी नहीं थी। खाने-पी
का इंतज़ाम भी कोई नहीं था। इरा की ज़िद से हम दोनों हार गए
मुझे बुरा भी लगा—आखिर ऐसी भी ज़िद क्या? उसने सोलंकी
रुपये दिये कि वह जाकर होटल का बिल चुका दे और बाकी सा
अपने घोड़े वाले के साथ वहीं आड़ू के डाक बंगले में भिजवा दे।

आखिर इरा की ज़िद के कारण हम उसे वहीं आड़ू के डाक ब
में छोड़ आए थे। मैं और सोलंकी वापस पहलगाम लौट आए थे।
कुछ दिनों बाद मैं वहीं आड़ू में इरा से एक बार और मिलने गया

इरा का सारा काम सोलंकी ने ही किया। होटल का बिल

कर और बाजार में जरूरी चीजें खरीदकर वह झाड़ू के डाक बंगले में इरा को दे आया था। जाते वक्त मुझे वह मिला था। उसकी आंखों में [illegible] चमक थी। सोलंकी ने ही डाक बंगले के अधिकारी से इरा के लिए वहां रहने की इजाजत ले ली थी।

मैंने फिर इरा का ख्याल दिल से निकाल देना [illegible] पर यह हो नहीं पाया था। झाड़ू के डाक बंगले की ओर जाते हुए [illegible] की पतली लकीर मुझे अपने तम्बू से दिखाई पड़ती थी। [illegible] झाड़ू का रास्ता—बाएं निहर बह रही है और दाएं [illegible] झाड़-फूलों से ढका है, निहर की धार में लकड़ी के लट्ठे बहते हुए चले जा रहे हैं, मंडराते, चकराते और सीधी धार में पहुंचते ही [illegible] की सतह पर फिसलते हुए। पर रास्ता ऊपर चढ़ जाता है, इसलिए [illegible] वहां तक नहीं पहुंचता। नीचे गति है, दृश्य हैं और चट्टानों से टकराती धार है, उड़ते हुए जल-पक्षियों की मस्ती है, मौन खड़े वन हैं। चट्टानों की आड़ में रुककर दम लेते हुए लकड़ी के लट्ठे हैं, जल-फेन के तैरते हुए सफेद फूलों के गुच्छे हैं, अवरोध से टकराकर छिटके हुए जल-बिंदु हैं।

विताकर शाम को लौट आऊंगा।

मैं सुबह-सुबह ही चल पड़ा। पहुंचा तो देखा कि सोलंकी भी वहीं है। इरा उसे नहलाने की जिद कर रही है और वह अपना माथा पकड़े हुए बैठा है और इरा चीख रही है···उसका अंग-अंग पलाश के फूलों-सा दहक उठा है और उसकी देह की चमक बिछलती धूप की तरह चौंधिया रही है। छाती पर आयी हुई वालों की लटें नीली लपटों की तरह मचल रही हैं।···

तभी देखा था इरा का वह रूप। उसने यह भी खयाल नहीं किया था कि मैं खड़ा हुआ हूं। नजदीक ही पनचक्की चल रही थी और एकाध काश्मीरी बकरवाल आटा पिसाने आए हुए थे। मुझे देखते ही इरा सोलंकी को भीतर खींच ले गई···मुझे उस वक्त पहुंचना बहुत खल गया था। मैं घोड़े से उतरकर दरवाजे तक पहुंचा तो उसकी अधूरी वात सुनाई पड़ी—तिलक आया है, मैं उसके पास जा रही हूं। तुम भी आ जाओ उस कमरे में।

और उसने वाहर निकल मुस्कराकर मेरा स्वागत किया। उसकी वह मुस्कराहट वहुत झूठी थी। मैं दूसरे कमरे में उसके साथ वैठ गया। वात चली तो वताया—पांच-सात दिन में वापस जा रहा हूं, सोचा तुमसे मिलता चलूं, इसीलिए चला आया।···

मैं भी यही सोच रही थी कि इन दो महीनों में तुम्हें एक बार भी यहां आने की फुरसत नहीं मिली। इरा बोली।

मैं इधर-उधर घूमता रहा। गुलमर्ग चला गया था। शेषनाग की तरफ गया, अमरनाथ तक नहीं पहुंच पाया। मौसम खराव हो गया था। कहते हुए मैं इरा को ही ज्यादा देख रहा था। क्षण-क्षण में उसके चेहरे पर अनेक भाव आ-जा रहे थे।

वह वोली—मेरा भी कोई ठिकाना नहीं, किसी भी दिन जा सकती हूं। दिल्ली ही जाऊंगी।···फिर जैसे सोलंकी के साथ कुछ मिनट पहले वाली वात की सफाई देते हुए वोली—यह सोलंकी नहाता ही नहीं, पानी से डरता है। तिलक, आज मिलकर हम इसे ठीक से नहला दें, क्यों ठीक रहेगा न ?

इरा की बात मैंने सुन ली, लेकिन बात में कोई तुक मुझे नहीं लगी। वह कोई गम्भीर बात दबाने के लिए इस छोटी-सी बात को बड़े जतन से खोजकर लाई थी। मैंने जवाब देने के लिए कहा, जरूर नहलाओ, अभी तक नहला नहीं पाईं।

मैं सच कह रही हूं। इरा बोली—चलो, अभी नहलाएं। कहते हुए वह भीतर गई और सोलंकी के लिए हाथ से धुले हुए कपड़ों का एक जोड़ा निकाल लाई। फिर बोली—चलो उसे उठाएं। मैं न चाहते हुए भीतर गया। बस्ते पर बैठा हुआ सोलंकी पाइप पी रहा था।

चलो, नहाने चलो! इरा बोली।

मैं नहीं जाऊंगा, नहीं जाऊंगा···सोलंकी बड़बड़ाया। मैंने कह दिया, मैं नहीं नहा सकता।

उसके बदन से पाउडर-मिली पसीने की गंध आ रही थी। मुझे बड़ा अटपटा-सा लग रहा था। उसे मनाने के अन्दाज में इरा ने उसके सुनहरे बालों पर हाथ फेरा और बेहद ममता से माथा चूम लिया—उठो न··· मेरे भी राजा!

आखिरकार सोलंकी खुद ही उठकर नहाने चला गया। पर उसपर जैसे मुसीबत का पहाड़ टूट पड़ा···भारी कदमों से वह पनचक्की के पास घिसटते हुए कुएं की ओर जाता हुआ दिखाई दिया।

इरा को मैंने फिर गौर से देखा···उसके अन्दर इन दिनों कोई टूटी हुई बात उथल-पुथल नहीं मचा रही थी, ऐसा लगा। वह मेरे नजदीक आकर खड़ी हो गई···आंखों में पनीलापन था। मेरी आंखों में घूरते हुए उसने कहा, अब तुम्हें एक बात और बता दूं। मैं बहुत दुखी हूं इन दिनों··· भरपूर सुख के बीच भी बहुत दुखी हूं। इस खुले, पथरीले आंगन में खड़े होकर भी मेरी सांस घुटती है।

से चक्कर आता है, इसीलिए मैं नहीं नहाता था। और वह जाकर लेट रहा।

शाम को मैं वापस लौट आया और चार दिन बाद श्रीनगर चला गया। श्रीनगर में बारिश हो रही थी। चार दिन बस सर्विस नहीं थी, इसलिए मैंने झुंझलाहट में वापसी का अपना रिज़र्वेशन कैंसिल करा दिया था। दुबारा रिज़र्वेशन मिलने में देर लग रही थी।

मुझे पता भी नहीं था कि इरा अभी काश्मीर में है या चली गई। उसका दिल्ली का पता ज़रूर मैंने ले लिया था। रेज़िडेंसी रोड पर शाम को अकस्मात् सोलंकी दिखाई पड़ा। देखते ही वह लपककर आया और बड़े उतावलेपन से उसने पूछा—इरा तुम्हारे पास है?

मेरे पास, क्या मतलब? मैंने आश्चर्य से पूछा।

वह आड़ू के डाक बंगले से चार दिन हुए एकाएक चली आई है। मैं पहलगाम में था, वह न तो मिली और न कोई खबर छोड़कर गई। सामान भी डाक बंगले में छोड़ गई है…

सारा सामान? मैंने पूछा।

हां, सिर्फ एक सूटकेस वह साथ ले गई है। चार दिन इन्तज़ार करने के बाद बाकी सामान वगैरह तो मैं होटल में उठा लाया, पर अभी तक उसका कोई पता नहीं चला। ' फिर वह हिचकते हुए बोला, इस वक्त उसकी हालत भी ऐसी नहीं थी कि अकेली जाती…वह मेरे साथ मेरठ चलने का प्रोग्राम बना चुकी थी।

मैं सकते में आ गया। इरा ने फिर यह क्या कर लिया था!

वह आगे बताने लगा, कोई बात भी नहीं हुई। बड़ी खुश थी। मेरे साथ पहलगाम तक आई। कुछ देर रुकी और बाज़ार से कुछ खरीद-फरोख्त करके वापस लौट गई। बस, उसके बाद से उसका पता नहीं है। कब चली गई, कहां चली गई।

सुनकर मुझे भी काठ मार गया था। मैंने उसे गौर से देखा—उसका चेहरा बेहद खुरदरा दिखाई पड़ रहा था और आंखों में दुख-भरी परेशानी

की झलक थी। वह ऐसे झटके मे बात कर रहा था जैसे उसकी चेतना चौंक-चौंक उठती हो। एकाएक वह बोला—मैं जरा झेलम के उस पार जा रहा हूं। श्रीनगर आकर वह वहीं रुकी थी, जरा पता करता आऊं ··

मुझे भी खबर देना। उसने इतना ही सुना और वह पागलों की तरह तेजी से बाध की सीढ़ियो पर चढ़ गया।

इरा का फिर कोई पता नहीं लगा। मुझे भी अजीब-अजीब-सा लगता रहा।

और काश्मीर पीछे छूट गया·· पर आड़ू का डाक बंगला और सोलंकी के घोड़े की टापों की आवाज अब भी कानों में गूजती है ··

मेरी आखो के सामने तस्वीरें आती हैं—घोडा दौडाकर जाता हुआ सोलंकी···और वीरान डाक बंगला···और मुझे लगता है कि अब भी, चार साल के इस अरसे मे, सोलंकी रोज़ इरा को खोजने घोडा दौड़ाता हुआ वहां जाता होगा और सुनसान—उदास डाक बंगले को देखकर लौट आता होगा।

घोड़े की टापों की आवाजें अब भी गूजती हैं।

और इसके बाद जो कुछ हुआ, वह या तो मैं जानता हूं या इरा··· क्योंकि तीसरा जानने वाला अब नही है।

दिल्ली में दो साल पहले इरा से मुलाकात हुई थी। तभी उसने बताया था कि वह आड़ू के डाक बंगले से क्यों चुपचाप चली आई थी। उस शाम जब वह सोल्की के साथ पहलगाम आयी थी, तो अपने खत लेने डाकखाने भी गयी थी। उसीमे उसकी नागपुर वाली सहेली दमयन्ती का खत था, जिसमे उसने लिखा था कि विमल उससे मिलने आया था और इरा के बारे में पूछ रहा था।···इरा ने [illegible]
था—

हां तिलक ! बारह वरस बाद···बारह जन्मों के बाद विमल जेल लौटा था और दमयन्ती से मिलने नागपुर पहुंचा था। दमयन्ती के त से पता चला था कि वह मेरे बारे में बहुत पूछ रहा था। तरह-रह की बातें दरयाफ्त कर रहा था···उसकी हालत ठीक नहीं थी। वह ीमार लग रहा था और कोई काम-धंधा उसके पास नहीं था। वह कार था। दमयन्ती ने लिखा था—आजकल विमल नागपुर में ही भटक रहा है। अखबारों को कुछ लिख-लिखाकर भेजता है, पर कुछ भी छपता नहीं। मैंने उससे घर खाना खाने को कहा, पर वह नहीं माना। एकदम बिगड़ गया है।

तिलक, मुझे एक-एक बात याद आने लगी। विमल की बात सोचकर मेरी आंखों में आंसू आ गए। और मुझे लगा कि उसकी बर-बादी का एक कारण मैं भी हूं। वह मुझे अब भी याद करता है···क्या सोचता होगा विमल मेरे बारे में ? अपने जीवन की पहली घटना या दुर्घटना कोई नहीं भूलता···और तिलक, शायद जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना यही है कि हमें हर चीज, हर सुख मिलता है, पर समय पर नहीं ! अगर विमल मुझे जिन्दगी में दो या तीन बरस बाद मिला होता···या बतरा की जिन्दगी में मैं पन्द्रह बरस पहले आ गई होती···या डाक्टर से बीस बरस पहले मुलाकात हो गई होती तो···

लेकिन मुश्किल यही है तिलक कि वक्त पर कुछ नहीं मिलता··· विमल ही यदि वक्त पर मिला होता तो जिन्दगी का क्या रूप होता··· खैर,···बेवक्त ही सही। यही क्या कम है कि विमल मुझे एक वक्त मिला था। मेरे जीवन में वह जो कुछ भी रहा हो···पर मैं उसे भु नहीं पाई थी। उसका रोम-रोम मेरा देखा हुआ था। आशा और नि के क्षण मेरे देखे हुए थे···मेरे शरीर में पसीने के कांटे चुभे हुए थे सब जैसे एकाएक उभर आए थे। और मैं व्याकुल हो उठी थी··· विमल पर तरस खाये, यह मैं बरदाश्त नहीं कर सकी। मैंने बहुत खूब सोचा···पर अन्त में यही तय किया कि मैं चुपचाप ही चली ज सोलंकी मुझे कभी भी जाने नहीं देता। और मैं चुराकर चुपचाप बंगले से भाग आई थी।

सात-आठ रोज दमयन्ती के यहां उसका इंतजार किया। आखिर एक दिन वह घूमता-घामता आ ही गया। मुझे देखा तो मुस्करा उठा। उसकी मुस्कराहट से मन पर न जाने कैसी चोट लगी थी। कुछ देर बैठने के बाद जब वह बेगानों की तरह चलने लगा तो मैं साथ चल दी। वह मुझे अपने कमरे में ले जाने को तैयार नहीं था, पर मैं जबरदस्ती चली गई।

अंधेरा, सीलन-भरा कमरा था। एक कोने में जमीन पर बिस्तर लगा हुआ था और दीवार पर चीटियों का कारवां रेंग रहा था। खुली हुई आलमारी में अखबारों का ढेर लगा हुआ था। पहुंचते ही उसने एक बड़ा-सा लिफाफा अखबारों के बीच छिपा दिया था। बिस्तर पर हम दोनों चुपचाप बैठ गए थे। मैंने ही बात शुरू की थी—तुमने तो कोई खबर ही नहीं दी, विमल !

वह फिर मुस्कराया···उसकी धंसी हुई आंखें मुझे गौर से देख रही थीं। उसके हाथ-पैरों की उंगलियां लम्बी हो गई थीं और चेहरे पर पीलापन झलक रहा था।

वह कुछ भी नहीं बोला। सिगरेट सुलगाकर बस उसने इतना ही पूछा—चाय पियोगी ? और मेरी ओर से स्वीकृति समझकर वह गली की दूकान पर चला गया।

अखबारों के बीच दुबका हुआ बड़ा-सा लिफाफा मैंने खोलकर देखा—उसमें एक्सरे की प्लेट थी। धुंधले फेफड़ों की तस्वीर। तभी वह चाय लेकर आया और बोला—अच्छा, तो यह तुमने देख लिया !··· और उसकी आखों में बेबसी और मायूसी का सैलाब-सा आ गया। फिर चाय पीते हुए बोला—कोई खास बात नहीं है··· ठीक हो जाऊंगा। इतना मुझे विश्वास है कि बीमारी से नहीं मरूंगा··· मैं आत्महत्या कर सकता हूं, पर ऐसे नहीं मरूंगा।

ऐसी बातें क्यों करते हो ? मैंने धीरे से कहा।

अरे मैं तो ऐसे ही कह रहा था। आत्महत्या करने का सवाल ही क्या है ? यह तो बात की बात थी···चाय पिओ ! कहकर उसने बड़ी पुरानी नजरों से मुझे देखा और कसमसाकर रह गया।

जेल में उसे तमाम रोगों ने घेर लिया था। वह आसाम के छरहरे लोगों की तरह लग रहा था।

बहुत मुश्किल से मैं उसे दिल्ली ले आई। वह मानता ही नहीं था। आखिर कुछ दिनों में ही उसकी हालत सुधरने लगी। एक रोज़ ...मैं बाल खोले बैठी थी, वह मेरे निकट सरक आया और बोला—...ा, सचमुच तुम बिलकुल नहीं बदली हो। मुझे पुराने दिन याद आ ...हे हैं···ज़िन्दगी एक बार फिर शुरू हो रही है···

मैं यह सुनकर घबरा उठी थी। जिस हालत से मैं गुज़र रही थी, उसका अहसास विमल को नहीं था। वह बड़ी बेफिक्री और सादगी से बोला—हम दोनों अब नौकरी करेंगे और सीधी-सादी ज़िन्दगी जिएंगे। कोई चक्करं नहीं अब। ठीक है न !

और उसकी धंसी हुई आंखों में जिस विश्वास की ज्योति चमकी थी, वह बड़ी ही पवित्र थी।

और जैसे-जैसे उसका यह विश्वास जड़ पकड़ता जाता था, मैं व्याकुल होती जाती थी। रात-रात-भर मैं उसके सिरहाने जागती बैठी रह जाती। अजीब-अजीब खयाल आते। कभी-कभी मन करता कि विमल को जगाकर कह दूं—तुम यह बरदाश्त कर पाओगे ?

तभी उसके बीमार फेफड़े मेरी आंखों के सामने कांपने लगते, और मुझे लगता कि मेरी हालत का अहसास होते ही यह जागता हुआ जीवन बुझने लगेगा।

···एक रात बड़ा भयानक सपना देखा—वही पुराना मकान है सेमड़ के पेड़ में लाल-लाल मांसल फूल लग आए हैं···मैं विमल को घ... में खोजती हूं कि विमल देखो, मेरे शरीर में लाल मांसल फूल खि... हैं···पर विमल कहीं भी नहीं मिलता। घबराकर मैं बाहर आती हूं-... सेमल के मांसल फूल वैसे ही खिले हुए हैं और उसीके नीचे विमल ... लाश पड़ी हुई है···

मेरा शरीर पसीना-पसीना हो गया। एक बार उसका भ्रम उसे...

चुका था और अब तो वह पहले से भी अधिक ईर्ष्यालु, ज़िद्दी और चिड़चिड़ा हो गया था। जब यह सामने आएगा या वह जानेगा तो कैसे बरदाश्त कर पाएगा···रातों में मैं यही सोचती रह जाती थी···

मैं सिर्फ़ एक को जीवन दे सकती थी।

कभी-कभी जब उसकी हालत दो दिन ठीक रहकर बिगड़ती तो मैं फिर सोच में पड़ जाती। क्या करूं, क्या न करूं ? रात-रात-भर वह खांसता और जब मैं उसके पास जाती तो वह आंखों में आंसू भरकर कहता—इरा, मेरे पास मत आओ, नहीं तो ये कीटाणु तुम्हें भी खा जाएंगे। क्यों मेरे लिए अपनी ज़िंदगी खराब करती हो ? मैं उसका सिर अपने सीने से लगा लेती।

एक दिन मैंने पूछा था—विमल, तुम कहां चले गए थे ? क्या करते रहे इतने बरस···तो वह भभक उठा था। बोला था—इरा ! शायद तुम मेरी बेचैनी नहीं समझ पाओगी···पर उस मजबूरी को ज़रूर समझ सकती हो, जो तुमने मेरे साथ भोगी थी ! मेरी और मेरे जैसे लाखों नौजवानों की असफलता के कारणों पर कभी तुमने गौर किया है ? क्यों हम इस तरह सड़ने-गलने और मर जाने के लिए मजबूर हैं ? कभी सोचा है ? तपेदिक के ये कीटाणु तो बहुत बाद में मुझे मिले हैं। पर जो कीटाणु पूरी ज़िंदगी को खा रहे हैं उन्हें कभी तुमने देखा है ?···मैं तुमसे क्या कहता···उन्हीं दिनों मुझे लगने लगा था कि 'शकुंतला' नाटक करने से कुछ नहीं होगा अब···अगर हमें सार्थक होकर जीना है तो सब कुछ बदलना होगा···सबसे पहले बदलना होगा इस दोगली अर्थव्यवस्था को, जिसमें चूसे जाने के लिए हमें छोड़ दिया गया है। इस शांतिमय विराम में कुछ नहीं होगा···जिस अवरुद्ध क्रांति में हम फंस गए हैं, उसे पूरा करना होगा···जब तक सड़ती हुई इस क्रांति के कीटाणु नहीं नष्ट होंगे, तब तक इस देश में हम और तुम यों ही सड़-सड़कर और अपमानित होकर मरने के लिए मजबूर होंगे। लेकिन···लेकिन इरा···अब कुछ भी होता दिखाई नहीं देता !

और सुबह होते ही उसका टूटा हुआ पर शेष धीरे-धीरे सिर उठाता था, वह मुस्कराकर कहता

नीरोग हो जाए। पर उनका मन खोखला हो चुका था···कभी-कभी तो लगता था कि वह बिलकुल अटपटी बातें करता है···बारूद और बंदूकों की। आंखों पर चश्मा चढ़ाए वह क्रांति की किताबें पढ़ता रहता था और बेतरह खांसता था। क्रांति के लिए समर्पित उन साथियों की बातें करता जिन्हें बीमारी के कारण उसे छोड़कर आना पड़ा था। कभी जेल के साथियों को याद करता···अपने टूटे हुए शरीर को लेकर पछताता ···और बिलख-बिलखकर रो पड़ता। कभी मुझसे पूछता—क्यों इरा! क्या यहां कुछ भी कभी नहीं बदलेगा?···और फिर निराश नजरों से देखकर पूछता था—क्या इस मुल्क में हम कभी वह नहीं कर पाएंगे जो करना चाहते हैं? क्या हम ऐसे ही व्यर्थ मर जाएंगे? उसका यह हाल देखती तो मेरी छाती फटने लगती थी। मैं राजनीति की उसकी बातें तो नहीं समझ पाती थी पर उसे दिलासा जरूर देती थी—हम सब कुछ करेंगे···सब कुछ बदलेगा···पर मुझे अपनी बात पर ही विश्वास नहीं होता था। एक तरफ वह था और दूसरी तरफ मेरा अपना असमंजस··· क्या विमल मुझे उस रूप में मंजूर कर पाएगा! और मैं घुलती जा रही थी कि कैसे छिपाऊंगी उससे वह बात। जिस दिन उसे यह पता चल जाएगा, उस दिन वह जीने से इनकार कर देगा···

एक दिन सुबह वह बहुत खुश था···तब मैंने फैसला कर ही लिया—

···मैं दमयन्ती की तबीयत खराब होने का बहाना करके पांच दिनों के लिए घर से चली गई। कहीं भी गई नहीं, यहीं रही, पर एक नर्सिंग होम में।

···और विमल के लिए मैं अग्नि-परीक्षा देकर नितान्त अकेली बनकर लौट आई। नया जीवन हुआ था मेरा और मन में दृढ़ विश्वास जम गया था कि अब मैं विमल को पूरी तरह बचा लूंगी। जो कुछ मैं उसके लिए कर सकती थी, जो मेरे वश में था वह मैंने किया था। भ्रम, संशय और दुविधा के सारे साए मैंने मिटा दिए थे और मैं ऐकांतिक रूप से उसके लिए तैयार हो गई थी, यही सोचकर कि कम से कम वह मुझसे तो निराश और हताश नहीं होगा···

…पर मैं अकेली रह गई…अब तो बिलकुल अकेली हूं। एक साल बाद विमल ने अस्पताल में आंखें मूंद लीं। कहते-कहते इरा रो पड़ी—सब कुछ खोकर भी यही हाथ आया। यही मुझे पाना था तिलक…मुझे भोजपत्र के वन की याद आती है…जहां अन्धेरे में भटकते हुए मसद्दू की आवाज़ का सहारा था…जो हमें मौत से उबार लाई थी…अब फिर कुछ-कुछ वैसा ही अन्धेरा है…वही घुटन है…कोई आवाज़ नहीं है…और कोई भी ऐसा नहीं है जिसे आवाज़ दूं…

मैंने इरा की ओर देखा। कमरा गंदा था और सिरहाने एक खिड़की थी। दो कुरसियां कमरे में पड़ी थीं और एक ओर विमल का बंधा हुआ सामान रखा था। विमल नहीं था, पर उसका सारा सामान इरा ने जतन से बांधकर रख दिया था। एक मैला-सा बिस्तर था और सुतली में बंधी हुई कुछ किताबें।

कमरा बहुत उदास था, इरा बहुत अकेली थी। धीरे से वह बोली—अब कहीं नौकरी कर लूंगी…या यह सूटकेस उठाकर कहीं और चली जाऊंगी…

तभी खिड़की के पास से किसी पिल्ले की कूं-कूं करती आवाज़ सुनाई दी। इरा उदासी से मुस्कराई और बोली—यह पिल्ला पाल लिया है।

मैंने देखा, खिड़की की छड़ से बंधा एक छोटा-सा झबरा पिल्ला बैठा था, वहीं सकोरा रखा था, जिसमें दूध से भीगी रोटी के टुकड़े चिपके हुए थे। और वह इरा की ओर बड़ी ममता से देख-देखकर कूं-कूं कर रहा था।

कुछ देर की खामोशी के बाद इरा बोली—इसीसे बातें करती रहती हूं, और कौन है जिससे कुछ कह सकूं…और शायद मैं किसीसे कुछ कहना भी नहीं चाहती। बहुत अजीब हो गया है यह मन…नहीं कहती हूं तो पछताती हूं और कह लेती हूं तब भी पछताती हूं।

उसकी आंखों में आंसू छलछला आए थे। फिर वह धीरे से बोली—दस-बारह दिनों में नौकरी मिल जाएगी, यही आसार हैं अगली मंजिल के। कोई फिक्र की बात नहीं है।

कहां ? मैंने पूछा था।

दिल्ली से बाहर…चण्डीगढ़ में एप्लाई किया है…देखो क्या होता

है ? इन्तज़ार कर रहा हूं । यह शहर छोड़ूंगी तो स्टेशन पर विदा देने आओगे ? कहकर वह फीकी हंसी हंस दी थी।

मैंने इरा को गौर से देखा तो वह फीकी मुस्कराहट उसके ओठों पर जमी हुई थी। उसकी आंखों में बेवसी झिलमिला रही थी। रेशमी बालों के रूखे रोयें धीरे-धीरे कांप रहे थे। वातावरण हलका करने के लिए मैं इधर-उधर की बातें करता रहा। उठकर चलने लगा तो इरा दरवाज़े तक छोड़ने आयी। घूमकर गली में निकला तो देखा—सीखचों की छड़ से बंधा हुआ वह खूबसूरत पिल्ला बैठा था और स्टूल पर बैठी इरा उसे ताक रही थी। उस एकाकी अन्धेरे कमरे के सिर्फ एक कोने में कहीं से रोशनी आ रही थी।

मैंने रुककर कहा—घबराना मत, मैं मिलता रहूंगा···नौकरी पर जाओगी तो छोड़ने आऊंगा··

उसने हलके से सिर हिलाया और मुस्कराने की कोशिश की, तो आंखें फिर भर आई थीं··

मुझे दूधसर याद आई थी···डबडबाती आंखों की शक्ल की वह खूबसूरत और अकेली झील, जिसमें आंसुओं के हिम-हंस तैर रहे थे··· और वह बर्फ की वादी याद आ रही थी, जिसमें से हम ज़िंदा निकल आए थे।

और मुझे डाक बंगले के वे दिन याद आते हैं, जब इरा ने मुझे सब कुछ बताया था और वह दिन भी जब आड़ू के डाक बंगले में उसने मुझसे कहा था—आंगन में खड़े होकर भी मेरी सांस घुटती है···और विमल के साथ इसी कमरे में गुज़ार हुए वे दिन···जब विमल को उसने संभाला होगा···उसे जिलाने के लिए अग्नि-परीक्षा देकर लौटी होगी।

कितने अपने और साथ ही कितने बेगाने होते हैं डाक बंगले ! मुसाफिर आते हैं और चले जाते हैं···

बहुत-सी बातें मुझे एक साथ याद आती हैं। विमल, सोलंकी, बतरा और डाक्टर—सभी जैसे मेरे सामने हैं, सीखचों के पार···इरा और उसका पिल्ला भी मुझे याद आता है। और मौत की वादियों से ज़िंदा लौटना भी नहीं भूलता।

उसे चण्डीगढ़ में नौकरी मिल गई थी। उदास आवाज़ में एक दिन सका फोन आया था—तिलक ! मैं कल रात की गाड़ी से जा रही हूं ··अलविदा !

और मैं उसके कमरे पर पहुंचा था। उसने सब कुछ यों ही छोड़ दिया था। खिड़की बंद कर दी थी। कुत्ते का पिल्ला पडोसी को दे दिया था। सिर्फ एक सूटकेस लेकर वह निकली थी।

मैंने पूछा था—कमरा छोड़ा नहीं ?

क्या पता, फिर लौट कर आना पड़े···या कहीं और जाना पड़े ? और उसने दरवाजे पर ताला लगाकर सूटकेस बाहर रख लिया था, और धीरे से बुदबुदाई थी—चलो भाई सूटकेस, चलें···

मैं उसे कालका मेल पर छोड़ आया था, वह अपनी बर्थ पर चुप-चाप बैठ गई थी। गाड़ी चलने के समय भी वह खिड़की पर नहीं आई थी।

गाड़ी चली गई थी।

अब मैं इतना ही जानता हूं कि या तो इरा ने चण्डीगढ़ में नौकरी कर ली होगी, या अपना सूटकेस लेकर कहीं और चली गई होगी। कम से कम दिल्ली लौटकर वह नहीं आई है···